

बीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या

८२९३

काल नं०

२८९.२

५५१२१

खण्ड

भारतीय जैन-साहित्य-संसद

(सोसायटी एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड नं० १३, दिनांक १२-८-६५)

परिवेशन :

: १ :



सम्पादक

प्राचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

(स्या० वि० काशी)

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०

(म० शो० सं० जयपुर)

प्रो० वरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, प्राचार्य

(हि० वि० वि० काशी)

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

(एच० डी० जैन का० आरा)

प्रकाशक :
प्रधानमंत्री
भारतीय जैन-साहित्य-संसद्
भोला भवन, महाजन टोली नं०-१
आरा (बिहार)

(श्रीमती युवराज्ञी लक्ष्मीदेवी मुधौली स्टेट (Mudholi State) दक्षिण भारत
के
द्रव्य द्वारा प्रकाशित)

प्रथम संस्करण
मूल्य : दश रुपये

मुद्रक :
पं० शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस,
भदौनी, वाराणसी - १.

विषय-सूची

१. अध्वक्षीय भाषण : श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी I. C. S.	१
२. स्वागताध्यक्षीय भाषण : श्री सुबोध कुमार जैन	१२
३. स्थायी अध्वक्षीय भाषण : प्राचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री	१७
४. साहित्य-कला-संगोष्ठी : उद्घाटन-भाषण : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा	२०
५. " " : प्रधानपदीय भाषण : पं० फूलचन्द्र शास्त्री	२३
६. " " : अध्वक्षीय भाषण : डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२७
७. " " : संयोजकीय भाषण : डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल	३७
८. दर्शन-प्राचार-संगोष्ठी : उद्घाटकीय भाषण : डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	३६
९. " " : अध्वक्षीय भाषण : डा० एन० के० देवराज	४३
१०. " " : संयोजकीय भाषण : प्रो० द्रवारीलाल कोठिया	४६
११. निबन्ध : हिन्दीका जैन साहित्य : प्रो० गदाधर सिंह एम० ए०	४९
१२. " मानतुङ्ग : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री	६१
१३. " राजस्थानी जैन सन्तोंकी साहित्य-साधना : डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल	६९
१४. " अपभ्रंशमें कड़वक छन्द : डा० राजाराम जैन	७४
१५. " अपभ्रंश साहित्य और साहित्यकार : श्री प्रेमसुमन जैन	७८
१६. " हेमचन्द्रके अपभ्रंश-व्याकरणाद्भूत पद्योंका तुलनात्मक अध्ययन : प्रो० शालिग्राम उपाध्याय	८६
१७. " जैन साहित्यमें ग्राम-चेतना : श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'	९५
१८. " प्राचीन भारतमें जैन शिक्षा-पद्धति : डा० हरीन्द्र भूषण	१०१
१९. " कविवर बनारसीदास और रमपरम्परा : श्री जमनालाल जैन	१११
२०. " आ० वीरसेनकी धवला-टीका : प्रो० उदयचन्द्र एम० ए०	१२३
२१. " परीक्षामुख : एक अनुशीलन : श्री सुदर्शनलाल एम० ए०	१२९
२२. भगवाम् महावीरका दिव्य दर्शन : श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव	१३३
२३. The conception of self in Jaina Metaphysics : Rampravesh Pandey	१३८
२४. Can gainism stop war ? : Prof. Diwakar Pathak	१४४
२५. The Conception of Godhead in gainism :	

२६. Jain Philosophy of non-absolutism and omniscience :

Prof. Shri Ramgce singh M. A.

१५२

२७. प्रतिवेदन : प्रो० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०

१५६

२८. सभादकीय : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी०-एच० डी०

१६१

२९. कार्य-प्रवृत्तियाँ और उपसमितियाँ

१७३

३०. संसद्-नियमावली

१७७

३१. संसद् की वर्तमान कार्यसमिति

१७५

३२. संसद् का सदस्यता-प्रवेशपत्र

१७६



भारतीय जैन साहित्य संसद—आरा अधिवेशन

के

अध्यक्ष

श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी (I. C. S.)

वाइस चांसलर, सर कामेश्वर संस्कृत विश्वविद्यालय

एवं

फुड एण्ड डबलपमेण्ट कमिशनर बिहार राज्य

का

अभिभाषण

मान्य श्री स्वागताध्यक्ष, संसद के सदस्यगण, उपस्थित सज्जनों एवं देवियों,

भारतीय जैन साहित्य संसद का अधिवेशन आरा जैसे नगर में, जहाँ ताडपत्रीय एवं कर्मांशु पाण्डुलिनियों का विशाल ग्रन्थागार है, सम्पन्न हो रहा है, यह आरा नगर के लिये जितने हर्ष और गौरव की बात है, उतनी ही साहित्य-संसद के लिये भी। मूर्तिमान साहित्य देवता के मन्दिर में इस प्रकार के समारोह का होना अनन्त स्वाभाविक है। मैं जैन साहित्य का पण्डित नहीं हूँ, पर इस साहित्य का प्रेमी अवश्य हूँ। भारतीय साहित्य के अध्ययन के प्रति अनुराग रहने से जैन-साहित्य के कुछ रत्नों के अवनत कन का सुअवसर अवश्य प्राप्त हुआ है। जैनधर्म में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है। पार्श्वनाथ और महावीर को तो ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त हो ही चुकी है, ऋग्वेद के आधार पर अरिष्टनेमि को भी ऐतिहासिक मानने में विशेष विवाद नहीं है। केशोसूक्त में वर्णित केशो जटाधारी ऋषभ ही प्रतीत होते हैं। पुरातत्वावशेषों से प्राप्त ऋषभ की केशवाली मूर्ति मुकेशीसूक्त में वर्णित लक्षणों से सादृश्य रखती है।

सिन्धु-सम्प्रदाय में प्राप्त पशुपति की मूर्ति का अध्ययन करते हुए श्री आर० पी० चन्दा ने मोडर्न-रिग्वू (१९३५) में लिखा है कि कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं की मुद्रा जैन-योगियों की है। इन मुद्रा में मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति भी उपलब्ध है। ऋषभ का धर्म बैल है, जो आदिनाथ का चिह्न है। सिन्धु-सम्प्रदाय की मुहर सख्या F G H, फलक पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल बना है, सम्भव है यह ऋषभदेव का ही पूर्वरूप हो। श्री राधाकुमुद मुखर्जी ने Hindu Civilization नामक अपनी पुस्तक में अनुमान किया है कि शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रपुगीन सिन्धु-सम्प्रदाय तक जाता है।

हो सकता है कि वैदिक संस्कृति के आर्यावर्त में विस्तार पाने के पहले जैन सिद्धांतों का संवर्धन भारत की प्राचीन संस्कृति के विकास की अंतिम अवस्था में हुआ। किसी भी संस्कृतिका इतिहास कुछ सीमा तक अलिखित रहता है। विश्लेषण करने पर उसके प्रधान अंग स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। परंतु घटनाओं की उत्क्रान्ति का कालयापन करने में कठिनाई रहती है; और इतिहासों में इस सम्बन्ध में एक मत पाना अशक्य-सा हो जाता है। परंतु यह असंभव नहीं है कि हिमालय और गंगा के बीच के समतल प्रदेश पर मानवी सम्प्रदाय के विकास में जैन तत्वों के संचालन का प्रारंभ भगवान् महावीर के पहले, यानि आज से २५०० वर्षों के पहले कई एक शतकों से हुआ होगा। इस प्रदेश में कृषि-जीवन के लिए जो साधन सुलभ हुए और जिनके माध्यम से मानव समाज बढ़ता गया, उन्हीं के आधार पर जैन सिद्धांतों का प्रादुर्भाव आगे चलकर हुआ।

ऋग्वेद के विशेष अध्ययन से अवगत होता है कि दासों और दसुओं के साथ पण्डित भी प्राचीन भारत में निवास करते थे। ये पण्डित वैदिक-देवता इन्द्र को नहीं मानते थे। Ludvig ने अनुमान लगाया है कि पण्डित आदिवासी व्यापारी थे। इनका आर्थों के साथ युद्ध भी होता था, अतः बहुत सम्भव है कि ये पण्डित अश्व-संस्कृति के उपासक रहे हों। आरण्यक और उपनिषदों में आत्मा, पुनर्जन्म, संन्यास, तप और मुक्ति का वर्णन पाया जाता है। आत्म-विद्या का एक छोर पुनर्जन्म है तो दूसरा छोर मुक्ति है। संन्यास धारणकर व्यक्ति जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त करता है। इन तत्वों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि जैनधर्म का अस्तित्व वैदिककाल में अश्व-संस्कृति के रूप में वर्तमान था। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १३६ वें सूक्त में 'वातरजना' शब्द द्वारा नक्षत्र मुनियों का स्मरण किया गया है। 'वातरजना' शब्द का अर्थ 'दिग्वासा वातरजनों निर्ग्रन्थों निरम्बरः' अर्थात् दिग्म्बर, निर्ग्रन्थ मुनि को 'वातरजना' कहा गया है। अतएव स्पष्ट है कि जैनधर्म का अस्तित्व वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है।

अन्तिम तीर्थंकर अश्व-भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित 'स्याद्वाद' सिद्धान्त ही जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है; क्योंकि राजनीति, जीवन और समाज में समन्वयात्मक विचारों का निष्कर्ष करनेवाला सिद्धान्त एकाएक प्रस्तुत नहीं हो सकता। यह उदार सिद्धान्त कई विचारकों के विचारों से परिष्कृत होने के पश्चात् ही निष्पन्न हुआ होगा। प्राणीमात्र के विचारों और कथनों में सत्यांश प्राप्त करना और हठ एवं पक्षपात को छोड़कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाना शताब्दियों के विचार-मन्थन के बाद ही निस्त हो सकता है। अतः २४ तीर्थंकरों की मान्यता सिद्ध करने के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त एक सबल निदर्शन है। भगवान् पार्श्वनाथ ने चातुर्वर्गिक उपदेश दिया, जबकि महावीर ने उसमें संगोपन एवं परिवर्द्धन कर उसे पंचायामी बनाया। अतः सम्भव है कि 'स्याद्वाद' सिद्धान्त किसी एक समय में विकसित न हुआ हो, बल्कि तीर्थंकरों द्वारा यह सिद्धान्त क्रमशः पूर्णता को प्राप्त हुआ होगा।

उपलब्ध जैन साहित्य भगवान् महावीर के उत्तरकाल का है। जैनों का समस्त वाङ्मय ११ अंग एवं १४ पूर्व के रूप में निबद्ध माना जाता है। पर ये मूल आगमग्रन्थ समय के प्रभाव से आज अपने यथार्थरूप में प्राप्य नहीं हैं। अतः मैं उपलब्ध वाङ्मय को भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल, मराठी आदि, भागों में विभक्त कर यहाँ उनका सर्वेक्षण करने का प्रयास करूँगा।

संस्कृत-साहित्य :

संस्कृत भाषा में धर्म और दर्शन के अतिरिक्त काव्य, कोष, छन्द, भ्रलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मुद्राशास्त्र प्रभृति विषयों पर विपुल ग्रंथ रचे गये हैं। आचार्य गृध्रपिच्छ ने प्रथम शताब्दी में 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रशैली का प्रथम जैनदार्शनिक ग्रन्थ है। गृध्रपिच्छ ने समस्त जैन तत्त्वज्ञान को इस छोटी-सी जैनकृति में ही निबद्ध करने की सफल चेष्टा की है। जिसे संक्षेप में जैन सिद्धान्तों को समझना हो, उसके लिये यह ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के समान उपयोगी है।

गृध्रपिच्छ के पश्चात् संस्कृत भाषा का दूसरा दार्शनिक कवि समन्तभद्र है। इनका समय प्रायः ईस्वी की दूसरी सदी है। इन्होंने स्वयम्भू-स्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका एवं गन्धहृस्ति-महाभाष्य नामक ग्रंथों की रचना की है। संस्कृत काव्य के क्षेत्र में समन्तभद्र की सबसे बड़ी देन चित्रालंकार की है। अभी तक विद्वानों का यह मत है कि भारवि और माघ से ही चित्रालंकार का श्रीगणेश होता है, पर समन्तभद्र के अध्ययन से चित्रकाव्य की परम्परा ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में समन्तभद्र को प्रथम जैन दार्शनिक विद्वान् कह सकते हैं। म्नात्र-शैली में दार्शनिक सिद्धान्तों का ग्रथन इनकी अपनी विशेषता है।

समन्तभद्र के पश्चात् कवि और दार्शनिक के रूप में सिद्धसेन का नाम आता है। 'जैनेन्द्र-महावृत्ति' में समन्तभद्र एवं सिद्धसेन दोनों के नाम आये हैं। सिद्धसेन ने सम्प्रतिपत्ति की रचना प्राकृत में और द्वात्रिंशतिकाओं की रचना संस्कृत में की है। प्रायः इनकी द्वात्रिंशतिकाओं में काव्य और दर्शनतत्त्व सम्यक् रूप में उपलब्ध है।

संस्कृत के तीसरे जैनाचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद हैं। ये एक साथ कवि, वैयाकरण और दार्शनिक हैं। इनका समय विक्रम की ५ वीं सदी का उत्तरार्ध माना गया है। जैनेन्द्र व्याकरण, मवर्धसिद्धि, समाधिपन्थ, और इष्टोपदेश के अतिरिक्त इनका 'दशभक्ति' नामक ग्रंथ भी पाया जाता है।

पात्रकेशरी और मानतुंग भी ७ वीं सदी के संस्कृत के आचार्य हैं। मानतुंग के लोकप्रिय भक्तामर-स्तोत्र से जन-जन परिचित है। प्रबन्ध-काव्य के रूप में तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रति नारायण प्रभृति महापुरुषों के चरितों को काव्य रूप में निबद्ध करने की परम्परा ईस्वी सन् की ७ वीं सदी से प्रारम्भ होती है। रविवेणु और जटासिंहनन्दि इस प्रकार के जैन कवि हैं, जिन्होंने रामायण की शैली पर प्रबन्धों का सृजन किया है। प्राकृत में जिस राम-कथा को विमलसूरि ने निबद्ध किया था, उसी राम-कथा को रविवेणु ने ललित छन्दों में निबद्ध किया है। रविवेणु ने रामायण के पात्रों के चरित्र को बहुत ही उदात्त और उन्नत रूप में प्रस्तुत किया है। राक्षस भूद वानर वंश को विद्याधर राजा एवं कैकेयी, अंजना, सीता एवं मन्दोदरी आदि नारी-पात्रों के चरित्रों को सहानुभूति-पूर्वक चित्रित कर उन्हें दया, ममता और वात्सल्य का स्रोत सिद्ध किया है। बालि और रावण के चरित्र भी कम उदात्त नहीं हैं। जटासिंहनन्दि ने 'वरांगचरित' नामक काव्य की रचना महाकाव्य के रूप में की है। कवि की प्रतिभा दर्शन और तत्त्वज्ञान के निरूपण में जितनी प्रखर हुई है उससे अधिक सौन्दर्य के चित्रण में। पद्मचरित और वरांगचरित ये दोनों ही ग्रन्थ समाज और संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ८ वीं शताब्दी का समाज पूर्णतया इन ग्रन्थों में प्रति-फलित हुआ है।

८ वीं शती में एक महान विभूति और अवतरित होती है। यह विभूति है आचार्य वीरसेन, जिन्होंने षट्स्रष्टासम की संस्कृत-प्राकृत मिश्रित मणि-प्रवाल भाषा में ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला-टीका और कमावपाहूड की २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला-टीका लिखी। इस प्रकार एक ही आचार्य ने ९२ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। भाषा की दृष्टि से इस टीका का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक विषय-वैविध्य की दृष्टि से। गणित, ज्योतिष, भूगोल, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र प्रभृति अनेकानेक विषय महाभारत के समान ही इसमें निबद्ध हैं।

काव्य के क्षेत्र में सन्धानात्मक काव्य और संस्कृत कोष की रचना करने वाला कवि धनञ्जय है। इसका समय अनुमानतः ८ वीं सदी है। इसने १८ सर्ग प्रमाण द्विमन्धान महाकाव्य, नाम-मालाकोष, अनेकाक्षरनाममालाकोष, विषाफहार-स्तोत्र प्रभृति ग्रन्थ रचे हैं।

जैन न्याय का संवर्द्धक अद्भुत प्रतिभाशाली महादार्शनिक अकलंकदेव का समय भी ८ वीं शताब्दी है। इन्होंने लघोयस्त्रयवृत्ति, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, तत्त्वार्थराजवात्तिक एवं अष्टशती प्रभृति ग्रन्थों की रचना की है। अकलंकदेव वह दार्शनिक पण्डित है, जिन्होंने अपने समय के आस्तिक दर्शन और बौद्धदर्शन के मिद्वान्तों की तर्कपूर्ण मोमांसा प्रस्तुत की है। जैन न्याय के क्षेत्र में अकलंकदेव को हम धर्मकीर्ति और कुमारिल भट्ट से कम नहीं मानने। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से अकलंक की रचनाएं बेजोड़ हैं।

इसी सदी के एक ग्रन्थ दार्शनिक आचार्य हरिभद्र को भी हम नहीं भूल सकते। हरिभद्र ने अकेले ही १४७० ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें आज लगभग ५०-६० ग्रन्थ ही प्राप्त हैं। सर्व-साधारणोपयोगी योग और दर्शन पर उत्तम कोटि की रचना करने वाले ये आचार्य हैं। इनके "षड्दर्शनसमुच्चय" से प्रत्येक दर्शनशास्त्री अवगत है। 'अनेकान्तजयपताका' अपने ढंग का एक अनुपम ग्रन्थरत्न है।

९ वीं सदी में जिनसेन प्रथम, जिनसेन द्वितीय, गुणभद्र, विद्यानन्द, वप्पभट्ट और वादाभिसिंह संस्कृत के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। जिनसेन ने महापुराण की रचना कर एक नई साहित्य-विधा को जन्म दिया है। आचार्य जिनसेन द्वितीय ने जहाँ पुराण के क्षेत्र में मीलपत्थर की स्थापना की, वहाँ समस्यापूर्ति के रूप में 'पार्श्वभूदय' नामक एक उत्तम काव्य की भी रचना की है। मेघदूत में जितना लालित्य और माधुर्य है, शान्तरस प्रधान होते हुए भी 'पार्श्वभूदय' में उससे कम नहीं। 'मेघदूत' के शृंगारपरक लघुकथात्मक को शास्त्रीय खण्डकाव्य का स्वरूप प्रदान कर जिनसेन ने मेघदूत की परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ी है।

विद्यानन्द महान दार्शनिक है। इनका अष्टमहर्षी और तत्त्वार्थश्लोकवात्तिक किस दार्शनिक को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते? हमारी दृष्टि से समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्द ये तीन ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने जैनदर्शन के क्षेत्र में प्रद्वितीय कार्य किया है।

वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि हमें वाणभट्ट की कादम्बरि की स्मृति दिलाती है। शैली की दृष्टिसे यह गद्य-ग्रन्थ किसी भी दृष्टि से कादम्बरि से कम नहीं है। आश्चर्य है कि अब तक इस मुरस और गम्भीर गद्य-काव्य के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है।

१० वीं शताब्दी में हरिषेण, अमर कवि, बालचन्द्र, वीरनन्द और हरिचन्द प्रमुख संस्कृत के महाकवि हुए हैं। अमर के वर्धमानचरित और शास्तिनाथचरित दोनों ही महाकाव्य हैं। वीरनन्द

ने चन्द्रप्रभञ्जित नामक महाकाव्य की रचना की है। यह काव्य रघुवंश और कुमारसम्भव से कम सरस नहीं है। महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्मामुद्रय तो प्रायः कवि के शिष्यपालवध के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य का प्रभाव श्रीहर्ष के नैषधचरित पर भी है। कवि के उद्यमान, उत्प्रेक्षाएँ, कल्पनाएँ एवं बिम्ब-योजनाएँ अनुपम हैं।

११वीं सदी के महाकवि वादिराज का पार्श्वनाथचरित महाकाव्य और यद्योधरचरित खण्डकाव्य निश्चय ही अद्वितीय रत्न है। इसी सदी में सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत की रचना कर जैन साहित्य को अमर बना दिया है। राजनैतिक और आर्थिक विचारों की दृष्टि से नीतिवाक्यामृत की कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समकक्ष मानना न्याय-संगत है। इसी शताब्दी में महाकवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित नामक महाकाव्य की रचना कर ललित काव्य को एक नई दिशा प्रदान की है। धनपाल की तिलकमंजरी इसी शताब्दी की अनुपम गद्य-रचना है।

१२वीं सदी में वाग्भट्ट, धनेश्वर, श्रीपाल, हेमचन्द्र, जिनचन्द्र, पद्मानन्द, चन्द्रप्रभ, मुनिचन्द्र, देवचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र और विजयपाल संस्कृत के प्रसिद्ध जैन कवि हुए हैं। हेमचन्द्र में वैयाकरण, दार्शनिक, आलंकारिक, कोशकार एवं महाकवि का व्यक्तित्व एक साथ सम्पृक्त है। इनका काव्यानुशासन अलंकार-शस्त्रियों के लिये महत्त्वपूर्ण तो है ही पर हेमचन्द्रानुशासन १२ वीं शताब्दी तक की समस्त भाषा-प्रवृत्तियों का अनुशासन करने में पूर्णतया सक्षम है। पाणिनि के द्वारा संस्कृत भाषा को एक सुष्ठुरूप प्राप्त हो जाने पर भी उससे कुछ नैसर्गिक विकास होता रहा है। इन विकसित होने वाली प्रवृत्तियों की मूचना हेमचन्द्र जितनी प्रामाणिकता से दे सके हैं, भोज आदि वैयाकरण नहीं।

१३वीं सदी में लगभग दो दर्जन संस्कृत के जैन कवि और आचार्य हुए हैं। इन आचार्यों में हस्तिमल्ल का जैन नाटक-रचयिता के रूप में प्रमुख स्थान है। इस शताब्दी में लगभग २० संस्कृत के महाकाव्य रचे गये हैं। धर्मकुमार का शालिभद्रचरित, माणिक्यचन्द्र का पार्श्वनाथचरित, अर्द्धदास का मुनिमुव्रतमहाकाव्य, वस्तुपाल का नरनारायणानन्दमहाकाव्य, बालचन्द्र का वसन्तविलास महाकाव्य, वर्द्धमानभट्टारक का बरांगचरितमहाकाव्य, अमरचन्द्र का पद्मानन्दमहाकाव्य, जिनपाल उपाध्याय का सनत्कुमारचरितमहाकाव्य ऐसी अमूल्य काव्य-मणियाँ हैं जिनके आलों को तिरोहित नहीं किया जा सकता।

१४वीं सदी में जिनप्रभ, लक्ष्मीतिलकमणि, मानतुंग, मेरुतुंग, प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मानन्द आदि लगभग एक दर्जन से अधिक कवि हुए हैं। मानतुंग का श्रेयांसनाथचरित, कमलप्रभसूरि का पुण्डरीकचरित, मेरुतुंग का जैनमेघदूत काव्यगुणों की दृष्टि से प्रथमश्रेणी के महाकाव्य हैं। जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित श्रेणिकचरित में महाकाव्य के समस्त लक्षण सन्निहित है।

१५-१६वीं शताब्दी तो संस्कृत-काव्य के विकास के लिये स्वर्णयुग ही है। अकेले भारुक सकलकीर्ति ने इतने अधिक काव्य और चरित ग्रंथों का प्रणयन किया है, जिससे एक ग्रन्थालय पुस्तकालय इन्हीं की कृतियों से समृद्ध किया जा सकता है। मेघावी पण्डित का चित्रबन्ध-स्तुतिकार्य काव्यालोचकों के लिये मनोरंजन की वस्तु है। मुनिभद्र ने शान्तिनाथचरित और चरित्रसुन्दर ने कुमारपालचरित की रचनाकर महाकाव्य की विधा को एक नई दिशा प्रदान की है। वर्णन विस्तार-मुक्त

सीधी-साधी कथा का आश्रय लेकर आन्तरिक और बाह्य संघर्षों की अभिव्यञ्जना ही इस शती के जैन महाकाव्यों की विशेषता है। दोद्दय कवि का भुजबलिचरितम् एक सरस और मधुर खण्डकाव्य है। जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १० किरण २ में इस काव्य की मूल पाण्डुलिपि प्रकाशित हुई थी। कवि ने खण्डकाव्य की सीमित सीमा में बंधकर भी पात्रों के चरित को महाकाव्योचित उदात्तता प्रदान की है।

१७वीं शताब्दी में वादिचन्द्र, मेघविजय और राजमल्ल ये तीन ऐसे संस्कृत के महाकवि हुए हैं, जिन्होंने सरल, परिष्कृत और समासहीन संस्कृत-शैली में काव्यों की रचना की है। सन्धान-काव्य-विधा के समृद्ध होने की दृष्टि से यह शती अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मेघविजयगणि का सप्तसंधान-महाकाव्य एक साथ ७ अर्थों को लेकर लिखा गया है। जैनकवि जगन्नाथ ने एक ही पद्य में २४ अर्थों की योजना की है। श्रीभूषण भट्टारक द्वारा विरचित शास्तिनाथचरित भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

१५ वीं और १७ वीं शताब्दी के मध्य यशोधरनुपति का आख्यान बहुत ही लोकप्रिय रहा है, यही कारण है कि लगभग १५-२० काव्य विविध भाषाओं में यशोधरचरित पर ही लिखे गये हैं। काव्यगुणों की दृष्टि से पद्मनाभ कायस्थ का यशोधरचरित एक सुन्दर काव्य है।

जैन लेखकों द्वारा अलंकार-साहित्य पर वाग्भट कवि का वाग्भटालंकार, द्वितीय वाग्भट का काव्यानुशासन, हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, अरिसिंह की काव्यकल्पलतावृत्ति, अजितसेन का अलंकारचिन्तामणि, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण, भावदेव का काव्यालंकारसार, विजयवर्णी की शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, अमृतनन्दि का अलंकारसंग्रह आदि ग्रन्थ अलंकार-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यप्रकाश पर माणिक्यनन्दि कवि ने 'संकेता' नामकी प्रथम संस्कृत-टीका लिखी है। रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु की सर्वोत्तम संस्कृत-टीका है।

कोश की दिशा में धनञ्जय की नाममाला, अनेकार्थनिघण्टु, हेमचन्द्र का अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, श्रीधर का विश्वलोचनकोश, राजचन्द्र का देशनिर्देशनिघण्टु, शिवशम्भु का एकाक्षर-नाममालाकोश, पुष्परत्नमूरि का द्व्यक्षरकोष, असगकवि का नानार्थकोश, हर्षकीर्ति की नाममाला, भानुचन्द्र का नामसंग्रहकोष आदि कोश-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

ज्योतिष-विषयक साहित्य में भद्रबाहु का अर्हचूडामणिसार, ऋषिपुत्रका निमित्तशास्त्र, भद्रबाहु भट्टारक का निमित्तशास्त्र, चन्द्रसेन का केवलज्ञानहोरा, श्रीधर का ज्योतिषशास्त्र एवं ज्योतिर्ज्ञानविधि, मल्लिसेन का आयसद्भाव, उदयप्रभ की व्यवहारचर्या, राजादित्यका व्यवहाररत्न, पद्मप्रभमूरि का भुवनदीपक, नरचन्द्र का लग्नविचार, ज्योतिषप्रकाश, प्रश्नशतक एवं वेडाजातकवृत्ति, अर्हदास का अष्टमत्त, महिन्द्रमूरि का यंत्रराज, भद्रबाहुकी भद्रबाहुसंहिता, समन्तभद्र का केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि, हेमप्रभ का त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला, रत्नशेखर का दिनशुद्धि-प्रकरण, मेघमहोदय का वर्ष-प्रबोध और हस्तसंजीवन, उभयकुशल का विवाहपटल प्रभृति ग्रन्थ उल्लेख्य हैं। भट्ट वोसरि का आयज्ञानतिलक तो ज्योतिष का एक बहुमूल्य ग्रन्थ है।

गणित के क्षेत्र में महावीर का गणितसारसंग्रह एवं ठक्कुर फेरू का गणितसार आदि गणित के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार संस्कृत-भाषा में जैन विद्वानों ने विविध विषयक साहित्य का प्रणयन किया है।

प्राकृत-साहित्य :

अर्धभाग्यी प्राकृत के ४५ भागम-ग्रन्थों के अतिरिक्त शौरसेनी भागम-ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के पयससार, समयसार, पंचरिपकाय, बारसधनुवेकला एवं अट्टपादुड, स्वामिकात्तिकेय की कट्टिगेयायुवेकला, वट्टेकर का मूलाचार, वसुनन्दि का उपासकाध्ययन, सिद्धान्तचक्रवर्त्ति नेमिचन्द्राचार्य के गोमटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार एवं द्रव्यसंग्रह प्रभृति ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

काव्य और कथा-साहित्य की दृष्टि से विमलसूरि का पञ्चमचरिय, संवदासगिरि की वसुदेव-हिण्डी, हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा, उद्योतनसूरि की कुबलयमालाकहा, पादलिप्तसूरि की तरंगवड्कहा, जिनेश्वरसूरि की निर्वाणलीलावड्कहा, जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला, महेश्वरसूरि की नागपंचमीकहा, चन्द्रप्रभमहत्तर का विजयचन्द्रकैवलचरियं, गुणचन्द्र का महावीरचरियं, देवभद्र का श्रीपामणाहचरियं, नेमिचन्द्र का महावीरचरियं, रयणचूडरायचरियं, सुमतिमूरि का जिनवत्ता-स्थान, जिनहर्ष की रयणसेहरनिव-कहा, वीरदेव की महीबाल-कहा एवं सिंहतिलक की भारामसोहा-कहा, प्रादि लघुकथाएँ महत्वपूर्ण हैं। इन कथा और काव्यों की मनोरंजक और सरस बनाने के हेतु विविध सम्बाद, प्रहेलिका, समस्यापूर्ति, सुभाषित, मूर्ति, विष्णुगीतिका, चर्चरी, गीत एवं प्रगीतों की भी योजना की गई है। चरित-काव्यों में प्रयुक्त उपमान अनेक दृष्टियों से नवीन हैं। पतित और दलित समाज का उत्थान तथा उस समाज के मार्मिक चित्र बड़ी उदारता के साथ प्राकृत काव्य और कथाओं में अंकित किये गये हैं। राम, कृष्ण, पाण्डव, हनुमत् प्रादि के आख्यानों के विविध प्रकार के मनोरम एवं बुद्धिसंगत रूप प्राकृत काव्यों में चित्रित हैं।

अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से हेमचन्द्र का कुमारपालचरित संस्कृत के अट्टिकाव्य के समान ललित और शास्त्रीय है। कथाओं की लोकरंजक बनाने के लिये समन्वयवादी वृत्ति को अपनाया गया है। दान, शील, तप और सद्भावना के प्रचार द्वारा मानवचरित को उन्नत बनाने का अथक प्रयास किया गया है। सौन्दर्य-पिपासा की शान्ति के हेतु नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त वन, उपवन, नदी, सरोवर, सूर्य, चन्द्र, उषा, सन्ध्या एवं ऋतु प्रादि का चित्रण विस्तृत और सरस हुआ है। संस्कृत-काव्य-परम्परा का अनुसरण करने पर भी प्राकृत के जैन कवियों ने वस्तु-कल्पना और वस्तु-संगठन की दृष्टि से मौलिकता और नवीनता है।

अपभ्रंश-साहित्य :

बहुमुखी प्राकृत साहित्य के अतिरिक्त अपभ्रंश का साहित्य भी विविध प्रवृत्तियों की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। जैन कवियों ने लोकभाषा को काव्य और साहित्य का माध्यम प्राचीन काल से ही बनाया है। यही कारण है कि अपभ्रंश में केवल काव्य, कथा, चरित्र एवं पुराण-विषयक रचनाएँ ही नहीं हैं, अपितु गणित, आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र प्रादि अनेक विषय सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हैं। अपभ्रंश का सबसे पहला कवि चतुर्मुख है। इस कवि ने पद्धटिया छन्द का आविष्कार किया, जो छन्द अपभ्रंश के अनेक स्तरों को पारकर हिन्दी में भी इसी नाम से प्रयुक्त हुआ है।

प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू आठवीं शताब्दी का वह कवि है, जिसने राम एवं कृष्ण कथा पर पृथक-पृथक अपभ्रंश में काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। पञ्चमचरित एवं रिदुणोमिचरित मात्र पुराण नहीं है किन्तु महाकाव्य के अनेक तत्त्व इन काव्यों में समवेत हैं। काव्यारम्भ की पुरानी

परम्परा का पालन करते हुए आरम्भ में स्वयम्भू ने पण्डितों से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा। न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न पाँचों महाकाव्यों को ही। विंगल और धलंकारका भी मुझे ज्ञान नहीं। कवि की यह उक्ति मात्र नम्रता का सूचक ही नहीं, बल्कि कवि की अभिज्ञता की सूचना है। राम के चरित में कवि ने आदर्श मानव के समस्त गुणों का संयोजन किया है। उसने उन मानव-भूतियों को गढ़ा है जो मानव-विकारों और कमजोरियों का भण्डार है। कवि मार्मिक प्रसंगों के नियोजन में भी अत्यन्त पटु है। संस्कृत एवं हिंदी के राम-काव्यों में लक्ष्मण की शक्ति लगने पर राम का ही विलाप उलब्ध होता है। पर कवि स्वयम्भू ने ऐसे सन्दर्भ का भी नियोजन किया है, जिसमें ग्राह्य लक्ष्मण की भूच्छित अवस्था को सुन भरत भी विलाप करते हैं। भरत के हृदय की दशा का बहुत ही सरस और हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत हुआ है। भरत के कर्ण विलाप के समान ही रावण की मृत्यु पर बिभीषण ने विलाप किया है। भाई को छोड़ बिभीषण राम से मिल गया, पर रावण की मृत्यु के अनन्तर उसके हृदय में आत्मलानि, क्षोभ, पश्चाताप आदि कितने प्रकार के भाव उठे होंगे। अतः कवि स्वयम्भू ने अपनी सहानुभूति बिभीषण को भी प्रदान की है। मैं यहाँ एक ऐसी उदात्त कल्पना आप के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिस कल्पना की बाल्मीकि घादि संस्कृत के कवि तो प्रस्तुत कर ही नहीं सके हैं, हिन्दी के महाकवि तुलसी आदि भी उसका स्पर्श नहीं कर सके। कल्पना वन-गमन के कर्ण प्रसंग की है। राजभवनों में रहने वाली राजवधू जानकी घर से बाहर चरण रखती है। स्वयम्भू की कल्पना पंख खोलकर आकाश में उड़ जाती है। वह कहता है—“जानकी अपने मन्दिर से क्या निकली, मानों हिमवान् से गंगा निकल पड़ी, छन्दस् से गायत्री निकल पड़ी, शब्द से विभक्ति निकल पड़ी हो”।

स्वयम्भू के अनन्तर पुष्पदन्त, त्रिभुवनस्वयम्भू, धनपाल आदि कई अपभ्रंश भाषा के जैन कवि प्रबंध-काव्य-प्रणेतारों में अपना उत्तम स्थान रखते हैं। धनपाल की भद्रिसयत्तकहा मार्मिक स्थलों की दृष्टि से बेजोड़ है। कवि ने बड़ी कर्ण और सहानुभूति के साथ भविष्यदत्त का चरित्र अंकित किया है।

मुक्तक काव्यों में पाहुडदोहा, सावयधम्मदोहा, वैराग्यमार, योगसार आदि रचनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश में गद्य-साहित्य के सन्दर्भ भी मिलते हैं। हिन्दी गद्य-साहित्य और हिन्दी भाषा के स्वरूप स्थिरीकरण के लिये अपभ्रंश का यह गद्य-साहित्य एक अमूल्य वरदान है। इस दिशा में अन्वेषण की आवश्यकता है।

हिन्दी-साहित्य :

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जैन कवियों की देन अमूल्य है। हिन्दी साहित्य के आदि काल का पुनर्संशोधन, जैन कवियों की रचनाओं के आधार पर ही किया गया है। गौतमरासा, सप्तशेखरासा, संघपतिममरासा, कण्ठुस्मिरासा, यशोधररासा, धनपालरासा, सम्यक्चरामा, नेमोश्चरामा आदि रासा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी महाकाव्य के क्षेत्र में भूधरदाम का पार्श्वनाथचरित, जिनदास का श्रेणिकचरित, दयासागर का धर्मदत्तचरित, विनोदोदाल का श्रीपालचरित, लक्ष्मीदास का यशोधरचरित, विश्वभूषण भट्टारक का जिनदत्तचरित, विमलसाह का वर्धमानचरित, भारामल का

चाण्डोदयचरित एवं श्रीपालचरित, सेवाराम का हनुमतचरित आदि प्रसिद्ध काव्य हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में बनारसीदास, भूधरदास, आनन्दधन, दीनाराम आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। चर्चरी और बारहमासा साहित्य भी हिन्दी के लिये एक नई विधा है। राजुलबारहमासा, सीता-बारहमासा, धनबाबारहमासा प्रभृति बारहमासा-साहित्य महत्त्वपूर्ण हैं। चौबीसी, पच्चीसी एवं बत्तीसी साहित्य-विधा भी जैन-कवियों की अपनी ही सूझ है। इन रचनाओं में खण्डकाव्य के समस्त तत्त्व तो हैं ही, पर विरह और हृदय की मार्मिक स्पन्दनशीलता भी वर्तमान है।

कन्नड-साहित्य :

कन्नड-साहित्य में मौलिक चेतना तरंगित होती है। गम्भीर चिन्तन, समुन्नत हादिक प्रसार एवं गोदावरी और कावेरी के द्वन्द्व इस साहित्य में मिलते हैं। ९ वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के राज्यकाल से जैन कवियों ने कन्नड में काव्य-रचना का आगोश किया है। कवि चक्रवर्ती पद्म ने कन्नड-साहित्य में एक ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया जिसकी कलाकृति उत्तरवर्ती कवियों के लिये आदर्श मार्ग बनी। आदिपुराण और भारत ये दोनों ही इनके प्रसिद्ध चम्पूकाव्य हैं। 'भारत' में काव्यतत्त्वों का प्राचुर्य है। इसमें कल्पना की उड़ान और मनोरम दृश्यों का चित्रण किसी भी भाषा के समालोचक के लिये अमूल्य वस्तु है। इस लोक-प्रसिद्ध कवि की रामायण तो दक्षिण भारत की जनता का कण्ठहार ही है। ओष्ठ्य कवि द्वारा विरचित कविवरकाव इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन और दृश्य-चित्रण की दृष्टि से बेजोड़ है। नयसेन ने 'धर्माभूत' नामक कथाग्रन्थ को रचनाकर संस्कृत एवं कन्नड मिश्रित भाषा में कन्नड-काव्य को एक नया ही रूप प्रदान किया है। महाकवि जन्न ने यशोधर-चरित और अनन्तनाथचरित की रचना की है।

कार्णपार्य ने नेमिनाथचरित, नेमिचन्द्र ने अर्धनेमिपुराण, गुणवर्म ने पुष्पदन्तपुराण, रत्नाकरवर्णी ने भरतेशवैभव एवं शतकत्रय लिखे हैं। कवि वर्णों का भरतेशवैभव माधुर्य और संगीत तत्त्वों में गीति-गोविन्द से भी बढ़कर है। इस ग्रन्थ की ४-६ पंक्तियाँ दक्षिण भारत के एक निरक्षर भट्टाचार्य को भी याद हैं। महाकाव्य और गीतिकाव्य का ऐसा संयोग ग्रन्थ शायद ही उपलब्ध हो सकेगा।

लक्षण-ग्रन्थों में कविराजमार्ग, छन्दोऽम्बुनिधि, रतनकन्द आदि महत्त्वपूर्ण कन्नड जैन ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक और दण्डी के काव्यादर्श के अनुकरण पर कन्नड में जनाचार्यों ने झलंकार-शास्त्रों का प्रणयन किया है। अतः स्पष्ट है कि कन्नड-साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को अभिव्यक्त करने में जैन-साहित्यकारों का अमूल्य योगदान रहा है।

तमिल-साहित्य :

तमिल के पंचमहाकाव्यों में जीवकचिन्तामणि, शिलण्डिकारम और बल्ल्यापति ये तीन जनाचार्यों द्वारा लिखित महाकाव्य हैं। 'जीवकचिन्तामणि' काय में तो विशाल है ही पर गुणों में भी सर्वोत्कृष्ट है। कल्पना की महत्ता, जौली की सुन्दरता और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण इस काव्य में बेजोड़ हैं। इसके रचयिता सित्तकदेव ने प्रेम और सौन्दर्य के विविध रूपों का चित्रण किया है।

यशोधरकाव्य, चूलामणि, नीलकेशि उत्तम काव्य हैं। तमिल साहित्य में श्रेष्ठ व्याकरण-ग्रन्थों का निर्माण जैन लेखकों द्वारा ही हुआ है। कुरलकाव्य तो तमिल-साहित्य में पंचम वेद माना गया है। नालडियार भी महत्त्वपूर्ण गीतिकाव्य है।

मराठी-साहित्य व अन्य साहित्य :

मराठी भाषा में जैन कवियों ने शक संवत् ९८३ से ही रचनाएँ आरम्भ की हैं। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, मूरिजन, गुणनन्द, पुष्पसागर, महेन्द्रचन्द्र, महेन्द्रकीर्ति, विशालकीर्ति आदि मराठी जैन कवि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार गुजराती, राजस्थानी और बुन्देली में भी विविध विषयक साहित्य उपलब्ध होता है। विस्तार-भय की दृष्टि से मैं यहाँ आँकड़े उपस्थित करने में असमर्थ हूँ।

हमें यह स्वीकार करते हुए तनिक भी संकोच नहीं होता है कि जैन साहित्य के अध्ययन और स्वाध्याय से कुछ समय के लिये सांसारिक विषमताओं को भूला जा सकता है। पाठक के समक्ष आदर्श का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित होता है जिससे वह अपनी कुत्सित वृत्तियों से जीवन को परिष्कृत करने के लिये दृढ़ संकल्प कर लेता है। जीवन को परिष्कृत करने की जितनी क्षमता जैन साहित्य में है, उतनी ही मनोरंजन शक्ति भी वर्तमान है। अतः एक सम्प्रदाय-विशेष के कवि और लेखकों द्वारा निर्मित यह विविध भाषा-विषयक विशाल और समृद्ध साहित्य मानव मात्र की सौंदर्य-पिपासा, चारित्रिक उत्थान एवं जीवन-निर्माण के करने में उपादेय है। जैन साहित्य-स्रष्टाओं ने अलखण्ड चैतन्य आनन्दरूप आत्मा का अपने अस्तित्व में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्तरूप प्रदान कर सौंदर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं द्वारा वाणी का चित्र अंकित किया है।

वर्तमान में हम साहित्य के अध्येताओं में मुनि श्री जिनविजयजी, मुनि श्री पुण्यविजयजी, स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी जैन, ब्रह्म० चन्दाबाई जी जैन, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, पं० मुखलाल जी संघवी, डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, डा० एन० बी० वैद्य, प्रो० एच० डो० बेलकर, डा० बिमलाचरण ला, डा० रात्करि मुखर्जी, डा० वामुदेवशरण अग्रवाल, स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती, आचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, स्व० डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० बेचरदास दोषी, प्रो० दरबारीलाल जी कोठिया, डा० ज्योतिप्रसाद जी, स्व० डा० कामताप्रसाद जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, डा० हरिमय्य भट्टाचार्य आदि विद्वानों के नाम उल्लेख्य हैं।

यह सत्य है कि अभी तक जैन साहित्य पर जितना और जैसा कार्य हुआ है वह बहुत ही अल्प है। अतः संसद् के समक्ष मैं निम्न लिखित समस्याएँ प्रस्तुत करता हूँ। विद्वान इन समस्याओं पर ध्यान देने की कृपा करें—

समस्याएँ :

१. जैन साहित्य का अभी तक विषयानुसार इतिहास नहीं लिखा गया है, अतः क्रमबद्ध लिखे गये इतिहास की महती आवश्यकता है।

२. पारिभाषिक जैन शब्दों के अर्थ जानने के लिये साधारण पाठक को कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। अतः एक पारिभाषिक शब्द-कोष की आवश्यकता है।

३. जैन आचार्य और कवियों के समय के सम्बन्ध में अभी तक विवाद चला आ रहा है। समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे विश्रुत कवि और दार्शनिकों की तिथियाँ ही प्रायः अनिर्णेत समझी जाती हैं। अतः जैनाचार्य और कवियों की तिथियों की एक तालिका सर्वसम्मत रूप से प्रकाशित होनी चाहिये।

४. अद्यावधि विविध ग्रन्थागारों में सहस्रों की संख्या में अप्रकाशित ग्रन्थरत्न भरे पड़े हैं अतः राजस्थान की ग्रन्थ-सूचियों के समान समस्त ग्रन्थागारों के ग्रन्थों की सविवरण ग्रन्थ-सूचियाँ

प्रकाशित होनी चाहिये। विविध विषयों पर यह गुन्ध-संपत्ति किस प्रकार विभक्त हुई है और किस प्रकार क्रमशः भिन्न-भिन्न काल-खण्डों में गुन्धों का निर्माण हुआ है, यह जानना आवश्यक है।

५. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण काव्यों का एक विवरण प्रकाशित करने की परम आवश्यकता है, जिन गुन्धों पर जिज्ञासु विद्वान् शोध-कार्य कर सकें।

६. प्रत्येक छद्म महीने पर साहित्य, दर्शन, कला, राजनीति, अर्थशास्त्र प्रभृति विषयों से सम्बद्ध कुछ ऐसे शीर्षक प्रकाशित करने की आवश्यकता है, जिन पर शोध और अन्वेषण का कार्य किया जा सके। भारत में संशोधन-कार्य कई एक महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संशोधन-संस्थाओं में हो रहा है। परन्तु उसका विहंगम दृष्टि से अवलोकन करने में कठिनाइयाँ रहती हैं, जिनको दूर करना संशोधन-कार्य की प्रगति के लिए अत्यन्त लाभदायक होगा।

७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, न्यायकुमुदचन्द्र और अनेकान्तजयपताका जैसे महनीय दार्शनिक ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

८. देश के नवनिर्माण और चारित्रिक विकास के लिये प्राधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन कथाओं के सार को लेकर अहिंसा, सत्य, संयम और त्याग के सिद्धान्त का निरूपण होने की आवश्यकता है। अतः उपन्यास, काव्य, कथा-कहानियाँ आदि नवीन शैली में लिखी जानी चाहिये।

९. राम, कृष्ण, हनुमान आदि भारतीय धर्म-नेताओं के चरित जैन दृष्टि से हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

१०. राजनीति, अर्थशास्त्र, मुद्राशास्त्र प्रभृति लोकोपयोगी जैन गुन्धों की सविवरण परिचयात्मक पुस्तिका के प्रकाशित होने की महती आवश्यकता है जिससे अन्वेषण करने वाले विद्वानों को उक्त विषय के जैन गुन्धों से सहायता प्राप्त हो सके। जिज्ञासु निष्पक्ष होने पर भी ग्रन्थों के ज्ञात न होने से यथार्थ स्थिति से अपरिचित रह जाता है।

११. मेरा यह विश्वास है कि विहार का प्रामाणिक इतिहास जैन साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना अपूर्ण है। अतः संसद् के सदस्य जैन वाङ्मय से विहार सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों के साथ विहार के प्राचीन ग्राम और उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के सम्बन्ध में सन्दर्भ महित तथ्य प्रस्तुत कर सकें, तो विहार-राज्य के इतिहास के लिये बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इसी प्रकार महाराष्ट्र, गुजरात, दक्षिण भारत एवं राजस्थान के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक तथ्य जैन साहित्य से संकलित किये जा सकते हैं।

मैं एक संक्षिप्त रूपरेखा आप के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया है। वाङ्मय अखण्ड और अद्वैत होता है। उसके साम्प्रदायिक भेद नहीं किये जा सकते। यहाँ जैन साहित्य कहने का मेरा आशय इतना ही है कि जो वाङ्मय जैनधर्म के उपासक कवियों आचार्यों और लेखकों द्वारा प्रसूत हुआ है वह जैन साहित्य है। वस्तुतः यह साहित्य सोन्दर्य-लालसा की वृत्ति एवं मानवता के निर्माण-पथ में बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शंकराचार्य आदि विद्वानों के साहित्य के समान ही उपयोगी है।

मैंने आपका बहुत समय लिया। मैं आपको एवं संसद् के सदस्यों के लिये धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मुझे यह अवसर प्रदान किया।

ज्ञान-देवता की जय। सर्वे सुखिनः भवन्तु।

स्वागताध्यक्ष

श्री सुबोध कुमार जैन, आरा

का

अभिभाषण

माननीय अध्यक्ष महोदय, देविथो और सज्जनों !

मुझे इस मंच से आपका स्वागत करते हुए परम हर्ष हो रहा है। गत वर्ष मैंने इसी मंच से श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा को होरक-जयन्ती महोत्सव के अवसर पर आपका स्वागत किया था। उस समय यहाँ एकत्र हुए विद्वानों ने जैन साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन किया, नई दृष्टि से कार्य करने की आवश्यकता का अनुभव किया और साथ ही यह अनुभव किया कि नवलेखन को भी प्रश्न मिलना चाहिये। अतएव भारतीय जैन-साहित्य-संमद् की स्थापना कतिपय साहित्य-मनोंषियों के सहयोग से सम्पन्न हुई है।

बीसवीं सदी के, उत्तरार्द्ध में इतिहास, कला और जीवन साहित्य के अलोचनात्मक मूल्यांकन की दृष्टि से प्राचीन जैन वाङ्मय पर कार्य करने का शुभारम्भ पाश्चात्य विद्वानों ने किया। तब से अब तक इस परम्परा का अनुसरण करने वाले स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमो, आचार्य जगल-किशोर मुस्तार, प्राचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, प्राचार्य जैनमुखदास, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन, डा० ज्योति प्रसाद, प्रो० दरबारीलाल कोठिया, डा० कस्तूरचन्द्र कामलीवाल, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० परमानन्द शास्त्री, पं० के० भुजवली शास्त्री, सिद्धांताचार्य श्री अग्रचन्द नाहटा, स्व० डा० कामताप्रसाद आदि विद्वान् हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों की अलोचनात्मक प्रणाली से जैन साहित्य को जहाँ अनेक लाभ हुए वहाँ एक हानि यह भी हुई कि मौलिक रचनात्मक साहित्य-धारा क्षीण-सी हो गई। यही कारण है कि इधर ५०-६० वर्षों में ऐसी कोई प्रतिभा अवतरित न हुई, जिनसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के प्राचीन आचार्यों के समान युगान्तरकारी किसी रचना को प्रस्तुत किया हो। हमारी दृष्टि में जहाँ प्राचीन साहित्य के प्रकाशन और अलोचनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है वहाँ नव-साहित्य सृजन की भी। महाकवि बनारसीदास और भूधरदास के समान हिन्दी में काव्यात्मक रचना करने के युग की बहुत बड़ी मांग है। इसी प्रकार उपन्यास, कहानी आदि का सृजन भी महाकवि रङ्ग के समान किसी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा होना चाहिये।

प्राचीन जैन आचार्य एवं कवियों ने भारत की समस्त भाषाओं में विविध विषयक साहित्य का निर्माण रस, अलंकार, ध्वनि, व्यंग्य आदि काव्य-गुणों की दृष्टि से किया है। प्राकृत भाषा में लिखित विमलमूरि का पउमचरित, अपभ्रंश में स्वयम्भू का पउमचरित एवं संस्कृत में लिखित रविवेण का पयचरितम् बाल्मीकि और तुलसी की कृतियों के समान हैं। इन तीनों भाषाओं में निबद्ध रामकथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अद्वितीय है। प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौणपात्रों के चरित्र भी विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार जिनसेन ने संस्कृत में, विमलमूरि ने प्राकृत में और पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में अमूल्य काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न विषयक विपुल सामग्री इन ग्रंथों में निहित है। हमें यह स्वीकार करते हुए थोड़ा-सा क्लेश हो रहा है कि जैकोबी एवं विटंरनिट्म के पश्चात् राम और कृष्ण कथा पर जैन कार्यों का मूल्यांकन नहीं हुआ है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कन्नड़ में महाकवि पम्प की सर्वश्रेष्ठ रामायण है। पम्प ने पात्रों के चरित्रों को बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। दक्षिण की तमिल, तैलंग, कन्नड़ और मलयालम इन चारों ही प्रधान भाषाओं में जैन साहित्य का बाहुल्य है। पम्प की रामायण और जन्न का कृष्ण-काव्य कन्नड़-साहित्य के लिये अमूल्य निधि है।

संस्कृत के ललित काव्यों में धनञ्जय का द्विसन्धान-महाकाव्य, वीरनन्दि का चंद्रप्रभचरित, हरिचंद्र का धर्मशर्माभुदय, असग कवि का वर्धमानचरित, महासेन का प्रद्युम्नचरित, अमरचन्द्र का बालभारत, बालचन्द्र का वसन्तविलास, वास्तुपाल का नरनारायणानन्द-महाकाव्य, कमलप्रभ का पुण्डरीकचरित, नयचन्द्र का हृमौर-महाकाव्य, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू प्रधान है। आश्चर्य है कि साहित्य-जगत् के बीच इन ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम है।

गद्य-काव्य के क्षेत्र में बादीभर्मिह की गद्यचिन्तामणि एवं धनपाल की तिलकमंजरी किसी भी दृष्टि से महाकवि बाण की कादम्बरी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अलंकार, छंद और कोश-साहित्य के निर्माताओं में स्वयम्भू, धनञ्जय, हेमचंद्र, बाभट्ट, अजितसेन, विजयवर्णी एवं श्रीधर को किसी प्रकार भूला नहीं जा सकता। विश्वलोचनकोश, जियका रचनाकाल १३ वीं सदी ईस्वी है, आधुनिक कोशों की शैली में लिखा गया है।

आत्मकथा लिखने की प्रणाली का आगणेश करने वाले १६वीं शताब्दी के महाकवि बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' के रूप में अपना ५० वर्षों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत कर आत्म-कथालेखन की शैली का आरम्भ किया है।

इसी प्रकार हिन्दी में कोश लिखने की परम्परा का आगणेश भी कवि बनारसीदास ने ही किया है। उनकी 'नाममाला' हिन्दी का प्रथम कोश-ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य में जिस दोहा-चौपाई वाली परम्परा का आरम्भ हुआ है उसका मूल अपभ्रंश के जैन कवियों की रचनाओं में है। पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री प्रो० जगन्नाथ राय जर्मा ने अपनी अपभ्रंश-दर्पण नामक पुस्तक में धनपाल कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य के आविर्भाव को बहुत कुछ सामग्री प्रदान की है।

इधर के प्राकृत संबंधी शोध-कार्यों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट अवगत होता है कि पद्यावत का मूलरूप जिनहर्षगणिका रयणसेहुरनिवकहा-काव्य है। इस काव्य की कथावस्तु से पद्यावत

अनुप्राणित ही नहीं है अपितु इसकी कथा और अनेक उपमा-उत्प्रेक्षाओं को लेकर 'पद्यावत' लिखा गया है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन आचार्यों की देन बेजोड़ है। विटरनिट्स ने अपने 'भारतीय वाङ्मय के इतिहास' में इसे स्वीकार किया है।

अब तक ३०० बड़ी कथाएं और लगभग ६०० छोटी कथाएं जैन साहित्य में उपलब्ध हो चुकी हैं। हिंदो के प्रेमाख्यानक काव्य का विकास और विकास प्राकृत की प्रेम-कथाओं से हुआ है। पादलिप्त की तरंगवदकहा, संवदास की वसुदेवहिण्डी, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला ऐसे सुन्दर प्रेमाख्यानक प्राकृत-काव्य हैं, जिनसे हिंदी के प्रेमाख्यानक काव्यों का सम्बन्ध सहज में ही जोड़ा जा सकता है।

ललित-साहित्य के अतिरिक्त भूगोल और खगोल के क्षेत्र में यतिवृषभ की तिलोपपण्णति, नेमिचंद्राचार्य का त्रिलोकसार, सिंहसूरि का लोकविभाग; आगम ग्रन्थों के अंतर्गत परिगणित वृहत्क्षेत्र-समास और लघुक्षेत्र-समास आदि ग्रन्थ बेजोड़ हैं। इन ग्रन्थों में द्वीप और समुद्रों के अतिरिक्त ज्योतिर्लोक-विभाग, भवनवासिलोक-विभाग, अधोलोक-विभाग एवं ऊर्ध्वलोक-विभाग विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उक्त ग्रन्थ हिन्दी और गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित हैं। पद्मनंदि की जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति भी इस दिशा में अमूल्य है। खगोल और भूगोल सम्बन्धी अनेक भारतीय प्राचीन परम्पराएं इन ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं।

गणित, ज्योतिष और खगोल-भूगोल के क्षेत्र में प्राचीन आचार्यों ने इसी पूर्व चौथी सदी से ही कार्य किया है। उक्त विषय का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, गरुडविजया, गणितसारसंग्रह, गणितसूत्र, त्रैविद्यमुनि विरचित सिद्धांतशिरामणि, गणितशास्त्र, गणितसार, केवलज्ञानहोरा, लोकविजय-यंत्र आदि ग्रन्थों में निबद्ध है। डॉ० श्यामा शास्त्री ने वेदांगज्योतिष की भूमिका में लिखा है—

“ज्योतिष, गणित एवं खगोल-भूगोल की दिशा में जैनो ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है। इस साहित्य के अध्ययन के बिना वेदांग ज्योतिष का अध्ययन अधूरा ही समझा जायगा। ज्योतिष-करणक गौकपूर्व मान्यताओं पर सम्यक् प्रकाश डालता है।”

राजनीतिक और अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य में भद्रबाहु एवं हेमचंद्र की अर्हभोति, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, वादीभस्सिंहसूरि की क्षत्रबुद्धामणि तो उक्त विषय की स्वतंत्र रचनाएं ही हैं। काव्य, कथा एवं नाटक आदि में उपलब्ध राजनीति और अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांत भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। डॉ० मोतीचंद ने 'सार्धवाह' नामक रचना में जल और स्थल से होने वाले भारतीय व्यापार की पुष्टि में लगभग एक-गै जैन ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। गुप्तकाल में होने वाले जल-वाणिज्य का यथार्थ लेखा-जोखा 'वमराश्चकहा' और जिनमेन के 'आदिपुराण' में पाया जाता है। डॉ० वासुदेवगरण अग्रवाल ने सार्धवाह की भूमिका में लिखा है कि जैन साहित्य की बुरियाँ और निर्युक्तियों से सार्ध और उनके माल के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

आचार-मूलक प्राचीन साहित्य तो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मानव का नैतिक उत्थान करनेवाले सहस्रों सिद्धांत इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। जिस साम्यवाद की आज चर्चा की जा रही है उसका प्रथम उद्घोष तीर्थंकर महावीर ने २५०० वर्ष पूर्व किया था। जाति, वर्ग एवं सम्प्रदाय-भेद को भूलकर मानव के रूप में संगठित होने के लिये उन्होंने शंखनाद किया था। अर्थ-सम्बन्धी विषयताओं के कारण के निराकरण के लिये अपरिगृहवाद एवं विचार-सम्बन्धी विषयताओं को दूर करने के लिये अनेकान्त या स्याद्वाद का प्रणयन इनके द्वारा हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि तीर्थंकर महावीर का यह साम्यवाद अध्यात्ममूलक आदर्श पर आधारित है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राष्ट्रीयक नेहरू, जैन और बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित साम्यवाद का ही अनुसरण करने का प्रयास कर रहे थे।

अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धांत विषयक साहित्य तो विपुल परिमाण में उपलब्ध है। यह जैन वाङ्मय की अमूल्य निधि है और प्राचीन जैन साहित्य का मूलस्रोत है। प्रथम शताब्दि में तीर्थंकर महावीर के ६८३ वर्ष उपरान्त आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त ने षट्खंडागम की रचना की। इन आगमग्रन्थों की ध्वला-जयध्वला-टीकाएँ वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य ने नवीं शताब्दी में की। पहली शताब्दी के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि ग्रन्थ लिखे। ये सारे ग्रन्थ प्राकृत में हैं। आचार्य उमास्वामि ने सर्व प्रथम जैन वाङ्मय को संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध करके 'तत्त्वार्थसूत्र' जैसे सर्वमान्य ग्रन्थ की रचना की। १० वीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र मिह्नातचक्रवर्ति ने गोमटसूत्र आदि ग्रन्थों की रचना की। जिस अणु और परमाणु शक्ति की आज चर्चा की जा रही है, उनके सम्बन्ध में ई० पू० की ७-५ सदी से ही जैनाचार्य लिखते आ रहे हैं। वनस्पति-शास्त्र तो इन आचार्यों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। कन्नड़ और संस्कृत इन दोनों ही भाषाओं में दो प्राचीन वनस्पति-कोश भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार दर्शन और न्याय-शास्त्र में स्वामी ममन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं।

विषय-विस्तार होता जा रहा है। अतः मैं उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन की पृष्ठभूमि में कतिपय मौलिक आवश्यकताओं की ओर आज के साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

१. विषय-क्रमानुसार जैनवाङ्मय का एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है।
२. वनस्पतिशास्त्र, मुद्राशास्त्र, व्यापार-वाणिज्य-विषयक साहित्य का परिचय शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिये।
३. शास्त्रों में प्रतिपादित अणु-परमाणु शक्ति पर वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा अन्वेषण करने की आवश्यकता है।
४. ज्योतिष, भूगोल, गणित, आयुर्वेद प्रभृति लोकोपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त उक्त विषयों पर शोध एवं अन्वेषण कार्य होने चाहिये।
५. आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का निर्देश किया गया है उन पदार्थों पर वैज्ञानिक शोध-प्रणाली द्वारा तथ्यों का संकलन करना चाहिये।

६. साहित्य की किस विधा पर अब तक कितना कार्य सम्पन्न हुआ है, इसका प्रामाणिक लेखा-जोखा सामने आना चाहिये। शोध की दिशा में यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि

किये गये कार्यों में पुनरावृत्ति न हो। अतएव संसद के मान्य सदस्य एक वर्ष के लिये शोध-संबंधी शीर्षकों की तालिकाएं प्रस्तुत करें और उन तालिकाओं को शोध-संस्थानों को भेजें।

इस प्रकार मैंने कतिपय आवश्यक समस्याओं की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

मान्य प्रतिधियों ने यहाँ पधारने की कृपा की, इसके लिये मैं स्वागत-समिति एवं अपनी ओर से आभार व्यक्त करता हूँ। आप लोगों के आतिथ्य में भूलें होनी हम से सम्भव है, आशा है आप हमें उनके लिये क्षमा करेंगे।

मैं आज के अध्यक्ष एवं सेमिनारों के अध्यक्षों, संयोजकों और उद्घाटन-कर्त्ताओं के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में स्वागत-समिति के सभी सदस्यों को भी धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि इस समारोह के आयोजन में मुझे उनका सर्वाङ्गीण सहयोग मिला है।

अन्त में हमारी यही शुभकामना है कि यह साहित्य-पंमद जन-मन में शुद्ध दृष्टि और शुद्ध ज्ञान द्वारा शुद्ध चारित्र्य का बीजारोपण करती रहे।

आरा,

६ जनवरी, १९६५।

स्थायी अध्ययन

प्राचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री

का वचन

जैन साहित्य का भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने समय की गति के अनुसार प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और लोक-भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य की रचना के द्वारा भारतीय वाङ्मय के भण्डार को समृद्ध बनाने में पूरा-पूरा योगदान किया है।

भगवान महावीर की धर्म-देखना उस समय की लोक-भाषा अर्धमागधी में हुई थी। १६ वीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्रुतसागरसूरि के अनुसार अर्धमागधी भाषा में आधे शब्द मगध देशकी भाषा के थे और आधे शब्द अन्य सर्व भाषाओं के थे। इसी से उसे अर्धमागधी-भाषा कहते थे। चूँकि भगवान महावीर की धर्म-देखना का प्रधान स्थान मगध देश था, अतः उनके श्रोताओं में मगधदेश की जनता का भाग अधिक होना स्वाभाविक है। शायद उसीके अनुपात से अर्धमागधी में मगध देश के शब्दों का बहुभाग था। भगवान महावीर की धर्मदेखना की यह विशेषता भी शायद उसीका परिणाम है कि जब श्रोता अपनी-अपनी भाषा में उनके अभिप्राय को समझ जाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा एक माध्यम है और वह माध्यम ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक श्रोता या पाठक लाभान्वित हो सकें—उस माध्यम के द्वारा प्रदक्षित विचार-धारा को सुगमता से हृदयंगम कर सकें। फलतः महावीर के अनुयायी जैनाचार्यों ने किसी भाषा-विशेष के अप्रह को कभी स्थान नहीं दिया और 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' की भावना के अनुसार जब, जहाँ, जिस भाषा की उपयोगिता और चलन देखा उसीको अपनी रचना का माध्यम बनाकर जनता का उपकार किया। इसी से जब भारत में संस्कृत वाङ्मय को प्राधान्य मिला तो प्राकृत भाषा के स्थान में संस्कृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना की और जब अपभ्रंश का विकास तथा विस्तार हुआ तो अपभ्रंश-भाषा में रचना की। संस्कृत-भाषा के हिमायती विद्वानों ने तो अपभ्रंश को अष्ट भाषा कहकर उसकी उपेक्षा ही कर दी थी। इसी से अपभ्रंश भाषा का अधिकांश साहित्य मात्र जैनाचार्यों की देन है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब मगध में बारह वर्ष का अयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, तो जैनाचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु ने बारह हजार मुनियों के महासंघ के साथ दक्षिण की ओर प्रयाण किया था और इस तरह दक्षिण के तामिल और कन्नड़ प्रदेश जैन साधुओं के आवास-स्थल बन गये थे। उस समय के जैन ग्रन्थकारों ने तमिल और कन्नड़ भाषा को अपनी ग्रन्थ-रचना का माध्यम बनाकर उन भाषाओं को समृद्ध किया और उन्हीं के द्वारा ऐसी लोक-विश्रुति प्राप्त की कि शताब्दियों तक दक्षिण प्रदेश जैनधर्म के केन्द्र बने रहे और अनेक राजवंश तक उससे प्रभावित हुए तथा उन्होंने जैनधर्म की अभ्युत्थति में योगदान किया। जैन साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह प्रायः

आचार-सम्पन्न सन्तों की देन है। उन सन्तों-महर्षियों ने शृङ्गार-प्रधान काव्यों की भी रचना की है। किन्तु उनका शृंगार-वर्णन भी उद्दीपक नहीं है, किन्तु उपशामक है। उसके पर्यवसान में प्रवाहित होने वाली शान्त-रस की धारा कामुक के मन को भी निष्काम कर देती है। क्योंकि वह शृंगार-रसिक हृदय की देन नहीं है, किन्तु शान्त-रस में निमग्न उन महर्षियों की देन है जो शृङ्गार-रस के अनुभविता नहीं होकर भी उसके मर्मज्ञ थे। ऐसे ही एक जैनाचार्य जिनसेन थे। वह बचपन से ही प्रव्रजित हो गये थे। उन्होंने काव्यमयी वाणी में भगवान् ऋषभदेव को लेकर महापुराण की रचना की। उसके शृङ्गारपरक वर्णनों को देखकर लोगों को उनके ब्रह्मचर्य में सन्देह हुआ। जब यह बात आचार्य के कानों तक पहुँची तो उन्होंने एक दिन जन-समाज को एकत्र किया और शृङ्गार-रस का ऐसा उद्दीपक वर्णन किया कि श्रोता मद-विह्वल हो उठे, किन्तु आचार्य के नग्न शरीर पर उसका रचमात्र भी प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। इन्हीं आचार्य जिनसेन ने कविवर कालिदास के शृङ्गार-प्रधान मेघदूत के पदों को लेकर वैराग्य-प्रधान 'पार्श्वाम्बुदय' काव्य की रचना अपनी युवावस्था में की थी। मेघदूत की तरह उसकी समस्यापूर्ति रूप 'पार्श्वाम्बुदय' काव्य भी काव्य-शास्त्र की एक भूमूल्य निधि है, किन्तु जैन रचना होने के कारण विद्वानों का ध्यान उम्र और नहीं जा सका है।

हमारे देश में साम्प्रदायिकता ने साहित्य के क्षेत्र में भी चौकाबन्दी कर रखी है। साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखने वाले विद्या-रसिकों की कमी है। इसीसे जैन साहित्य एक तरह से उपेक्षणीय-सा रहा है। और उसका यथार्थ मूल्यांकन आज तक भी नहीं हो सका है। यदि ऐसा हुआ होता तो क्या 'अन्नचूड़ामणि' जैसी नीतिगुण उद्बोधक, सरल, सरस काव्य-रचना क्या विद्या-रसिकों के भी परिचय में न आती। यदि वह जैन रचना न होती तो उसे हिनोपदेशकी-सी क्वालिटी अवश्य मिलती। यही बात सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के विषय में भी है। उस कोटि की रचना संस्कृत-बाङ्गमय में अत्यन्त विरल है। किन्तु फिर भी वह उपेक्षणीय है। ज्ञान के क्षेत्र की इस चौकाबन्दी ने हमारा कम अहित नहीं किया है। किन्तु फिर भी जानियों के मनों से साम्प्रदायिकता का वह विकार जाता नहीं, स्वतंत्र भारत में भी उसकी तूती बोलती है। उस तूती की ध्वनि को अननुनी करने के लिये आवश्यकता है कि असाम्प्रदायिकता का डिडिमनाद किया जाये, जिसमें उसकी ध्वनि दूब जाये। किन्तु अभी ऐसा होने में देर है। इसीसे हम लोगों को जैन साहित्य को समुन्नत करने और प्रकाश में लाने के लिये भारतीय जैन साहित्य संसद् की स्थापना करनी पड़ी है। इसके द्वारा हम जैन साहित्य में योगदान करने वाले उन सभी मनीषी लेखकों तक पहुँचना चाहते हैं जो जैन साहित्य पर कुछ लिखते हैं या लिखने की भावना रखते हैं। हम उनकी कठिनाइयों को दूर करने में भी यथाशक्ति हाथ बटाना चाहते हैं और चाहते हैं कि विद्या-रमिक जन जैन-साहित्य को भी भारतीय-साहित्य का एक अभिन्न अंग मानकर उसे अपनावें और अपनी अमर लेखनी से उसके पृष्ठों को भी भूषित करें तथा उसके साथ यथार्थता का ही व्यवहार करें। खेद है कि कोई-कोई लेखक अपनी अभिज्ञता में कमी होने के कारण जैन-सम्मत विषयों पर लिखते समय गलत लिख जाते हैं। और उनकी उस गलती का फल जैन धर्म, जैन साहित्य और जैन समाज को गलतफहमी के रूप में भोगना पड़ता है। आज भी 'स्याद्वाद' की संशयवाद समझने वाले लेखक वर्तमान हैं और जैन धर्म को भगवान् महावीर की देन तथा उसके उद्गम को केवल एक तात्कालिक

वैचारिक क्रान्ति का परिणाम बतलाने वाले ती अनेकों हैं। अन्धे-अन्धे दार्शनिक मनीषी भी उपनिषदों को केवल वैदिक ऋषियों की ही देन मानते हैं जो यथार्थ नहीं है। भारतीय तत्त्वज्ञान में श्रमण-विचारधारा का योगदान वैदिक-विचारधारा से कम नहीं है। इन्हीं दोनों विचार-धाराओं के सम्मिश्रण और संघर्ष का परिणाम कतिपय उपनिषदों का तत्त्वज्ञान है जिनसे जैनधर्म की विचार-धारा का मेल खाता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैन धर्म उन उपनिषदों से प्रभावित है, किन्तु वे उपनिषद् जैन धर्म की विचारधारा से प्रभावित हैं। जैन धर्म का सुनिश्चित उद्गम आज से तीन हजार वर्ष प्राचीन है। उस समय वाराणसी नगरी में जैनों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। वह एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, केवल पौराणिक नहीं। उपनिषदों की रचना जो उनके पश्चात् ही हुई है। उनके समय में पश्चात्-तत्पत्वा करने वाले वैदिक जन थे। तप श्रमणों की देन हैं, वैदिकों की नहीं, अग्नि-ब्राह्मण वैदिकों की देन है। इन दोनों का मिश्रण पश्चात्-तप है, जो बतलाता है कि वैदिक ऋषियों ने यद्यपि श्रमणों की विचारधारा से प्रभावित होकर तप को अपनाया, किन्तु फिर भी वे अग्नि को नहीं छोड़ सके थे। अतः तत्त्वज्ञान के विश्लेषण के लिये भी नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसके बिना सत्य तक पहुँचना कठिन है।

इतने शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। और उपस्थित विद्वानों से आशा करता हूँ कि भारतीय जैन साहित्य संसद में योगदान करके वे अपने नैतिक कर्तव्य का ही पालन करेंगे।

आरा,

६ जनवरी १९६५।



हिन्दी-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय

का

उद्घाटन-भाषण

[साहित्य और कला संगोष्ठीका उद्घाटन करते हुए श्री शर्मा द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार] ।

उपचार इन युग का धर्म है। इस धर्म का पालन करना आज आवश्यक है। मैं आज जिन संगोष्ठी का उद्घाटन करने जा रहा हूँ, वस्तुतः यह भा मेरी एक अनधिकारपूर्ण चेष्टा है। मैं जैन साहित्य और जैन कला का विशेषज्ञ नहीं हूँ, पर आप लोगो के स्नेहवश ही यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

साहित्य का मूल व्यंज्य है। जिस साहित्य में समाज और युग का व्यत्यात्मक चित्रण रहता है, वह साहित्य मेरी दृष्टि में शाश्वत है। जीवन का सच्चा रूप साहित्यकार ही प्रस्तुत करता है। साहित्य में सभी प्रकार की क्रिया प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल समवेत रहता है। जीवन का जितनी सूक्ष्मता से कवि, कलाकार या अन्य साहित्यिक देखता है, समस्त वैज्ञानिक उतनी सूक्ष्मता से नहीं। अतः जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं और शाश्वतिक भावनाओं का अध्ययन साहित्य के आलोक में ही संभव है।

जैन साहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों में महान है। सन्तुष्ट, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, ब्रजभाषा प्रभृति भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं में जैनाचार्य और जैन मनीषियों ने साहित्य का सृजन किया है। जितने ग्रन्थ अभी प्रकाश में आये हैं, उनसे सहस्र-गुणित ग्रन्थ भण्डार में अप्रकाशित पड़े हैं। यदि सारा वाङ्मय प्रकाश में आ जाय तो भारतीय वाङ्मय को अग्रणीत अमूल्य मणि रत्न प्राप्त हो सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के अध्ययन और ऐतिहासिक कालविभाजन में जैन साहित्य का बहुमूल्य सहयोग भुनाया नहीं जा सकता। यह स्मरणीय है कि हिन्दी साहित्य की आदिकाल सम्बन्धी सामग्री में जैन मनीषियों की रचनाएँ सर्वाधिक हैं। अपभ्रंश के ग्रन्थों का मूल्य केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु साहित्यिक तत्त्वों की दृष्टि से भी है। चरित-काव्य की वास्तविक रूपरेखा का निर्धारण अपभ्रंश के चरित-ग्रन्थों के आधार पर किया जा सकता है। पौराणिक और चरित काव्य के बीच सीमा-रेखा खींचना सहज नहीं है, पर स्वयम्भू के पद्मचरित, पुष्पदन्त का महापुराण और रङ्गू न सुकोसल-चरित इस प्रकार की रचनाएँ हैं, जिनके अध्ययन से पौराणिक और चरित-काव्य की सीमा-रेखा निर्धारित की जा सकती है।

जैन साहित्य का मुख्याधार सभंग-पद्धति है, जो विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य को उपस्थित करती है। विचार-वैविध्य को एक धरातल पर उपस्थित कर समन्वयात्मक जीवन-मूल्यों का विश्लेषण ही इस पद्धति का उद्देश्य है। वस्तुतः सत्य का साक्षात्कार अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा ही किया जा सकता है। साहित्य-छात्रों के उदार विचार अनेकान्त-सिद्धान्त के आलोक में ही पनप सकने हैं। यद्यपि आरम्भ से ही जैन साहित्य जन-क्रान्ति को अपनाता रहा है, तो भी इस साहित्य में श्रेष्ठ-प्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण वर्तमान हैं। जैन साहित्य के जन्म की कहानी ही, क्रान्ति की कहानी है। जातिवाद, वर्गवाद एवं अन्य वाद-विवादों के बाल्या चक्र को जैन मनीषियों ने बुद्धि की कसौटी पर कसकर 'स्याद्वाद' की शीतल धारा द्वारा अज्ञान का उपशमन किया है। लोक और परलोक दोनों का समन्वयात्मक विश्लेषण एवं विवेचन जैन साहित्य में पाया जाता है। मेरी दृष्टि से जैन साहित्य का महत्त्व निम्न लिखित पहलुओं से है :—

१. भाषा की अपेक्षा
२. भाव-विचारों की अपेक्षा
३. शान्त-रस के व्यापक रूप के विश्लेषण की अपेक्षा
४. विधि-रचना विधान की अपेक्षा
५. ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा
६. आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम और स्वरूप को सम्यक् प्रकार से अवगत करने की अपेक्षा।

साहित्य के निर्माण में जिस प्रकार की दृष्टि को अपनाया जाता है, वही दृष्टि 'दर्शन' बन जाती है। अतः किसी-न-किसी रूप में साहित्य का दर्शन अवश्य पाया जाता है। यतः साहित्य में अनिवार्यतः दृष्टि और दर्शन का प्रतिफलन रहता है। जैन साहित्य का भी अपना दर्शन है। इस दर्शन के आधार पर जैन साहित्य को साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता है। साहित्य में कोई-न-कोई सिद्धान्त वर्णित रहता है और यह सिद्धान्त ही उसका दर्शन बन जाता है। यदि हम जैन साहित्य को सिद्धान्त-भिरता के कारण साम्प्रदायिक कहें, तो फिर वर्तमान समाजवादो साहित्य या सन्त-कवियों अथवा अन्य किसी भी काल-खण्ड के कवियों के साहित्य को भी साम्प्रदायिक मानना पड़ेगा। अतः उक्त प्रकार के साहित्य में किसी-न-किसी सिद्धान्त-विशेष का विवेचन है। मेरा अभिमत है कि जैन साहित्य जीवन का समझने के लिए किसी भी साहित्य से कम मूल्यवान् नहीं है। जैन साहित्य के अध्ययन न करने का ही यह परिणाम है कि उसे शान्त-रस के अस्तित्व के कारण ही साम्प्रदायिक कह दिया जाता है। यदि वस्तुतः इस साहित्य का अध्ययन किया जाय तो शृङ्गार, वीर, करुण प्रभृति रसों की रचनाएं कम नहीं हैं। स्वयंभू ने शृङ्गार की जो धारा बहाई है, वह क्या रीति-कालीन हिन्दी-कवियों से कम है? भक्ति के क्षेत्र में अपभ्रंश के कवि जोड़न्दु और रामसिंह को किस प्रकार होन कहा जा सकता है? कबीर की पारिभाषिक शब्दावली में निरंजन, अवधूत, प्रभृति शब्दों का मूल स्रोत अपभ्रंश की जैन रचनाओं में पाया जाता है। संस्कृत काव्य-ग्रन्थों में हरिचन्द्र का धर्मशर्मामृदय, वस्तुपाल का नरनारायणानन्द, महासेनका प्रद्युम्नचरित, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, वीरसेन का चन्द्रप्रभचरित, अमरचन्द्र का बालभारत एवं मुनिभद्र का शान्तिनाथचरित उत्तमकोटि के महाकाव्य हैं। आश्चर्य यही है कि अभी तक इन काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन प्रस्तुत नहीं किया गया है। इन काव्यों में राष्ट्रीयता का चित्रण देश, नगर

और राष्ट्र के निरूपण के साथ सार्वजनीन समाज के चित्रण में उपलब्ध है। तीर्थंकरों का जीवन प्रकट रहने पर भी आचार और जीवन-शोधन की काव्यात्मक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं। यह ध्यातव्य है कि आचार का एक निश्चित सीमा के भीतर निरूपण पाया जाना सत्-साहित्य का लक्षण है।

जैन कला के अवशेष आज भी अपना गौरव व्यक्त कर रहे हैं। मूर्ति, चित्र और संगीत कला के क्षेत्र में जैनार्यों ने अद्भुत कार्य किया है। बौद्ध मूर्तियों के समान जैन मूर्तियाँ विभिन्न मुद्राओं में भले ही उपलब्ध न हों, पर उनका शान्त और वीतरागी स्वरूप दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। लोहानीपुर से प्राप्त पटना म्यूजियम में स्थित दो तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की पालिश मौर्यकाल की विशेषता को प्रकट कर रही हैं। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं। मथुरा संग्रहालय में आयागपट्ट के अवशेष गुप्तकाल की कला सम्बन्धी विशेषताओं को सहज में व्यक्त करते हैं। भारत का ऐसा शायद ही म्यूजियम होगा, जिसमें जैन तीर्थंकर और शासन देवियों की मूर्तियाँ संकलित न हों। उदयपुर के संग्रहालय में स्थित अम्बिका की मूर्ति ९-१० वीं शताब्दी की कारीगरी का अनुपम उदाहरण है।

चित्रकला के क्षेत्र में जैन मुनि और यतियों ने सचित्र पाण्डुलिपियों के माध्यम से कार्य किया है। आरा के ग्रन्थालय में स्थित जैन रामायण, भक्तमार्ग और तिलोपपण्णत्ति की सचित्र प्रतियाँ किन्हीं के मन को मोहित न करेंगी? चित्र का वेशभूषा और भाव भंगिमाएँ इतनी सजीव और आकर्षक हैं जिससे सहज में ही उनके शिल्पत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। रंगा की चटक और ताजगी को समय की धूलि भी धूसरित नहीं कर सकी है। मगीन पर 'संगीतसमरसार' जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। तत्तत् अतत्, वितत् जैसी वाद्य-ध्वनियों का निर्देश तत्त्वार्थबार्त्तिक सर्वार्थसिद्धि प्रभृति ग्रन्थों में पाया जाता है। सप्त स्वरा का आरोहण अब आरोह पुद्गल की विभिन्न पर्यायों में विवेचन है। अतः जैन साहित्य और कला भारतीय वाङ्मय का दैदीप्यमान रत्न है।



साहित्य-संगोष्ठी के प्रधान पद से दिया गया

अभिभाषण

श्री पं० फूलचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य,

वाराणसी

मंगलं भगवान् बीरो मंगलं गौतमां गच्छी ।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

इसके पहले कि आज की संगोष्ठी के मुख्य विषय 'जैन साहित्य-कला' को स्पर्श करूँ, 'भारतीय जैन साहित्य संसद्' के प्रमुख संस्थापक श्री डा० नेमिचन्द्र जी एम० ए०, ज्योतिषाचार्य तथा उनके पृष्ठबलस्वरूप प्रमुख सहयोगी श्री बाबू सुबोधकुमार जो जैन के प्रति अपनी हादिक कृतज्ञता व्यक्त कर देना अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ ।

आज से लगभग एक वर्ष पूर्व इसी स्थान पर देश-विदेश में प्रसिद्ध यहाँ की प्रमुख संस्था श्री जैन सिद्धान्त-भवन (ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के हीरक-जयन्ती महोत्सव के निमित्त हम सब यहाँ उपस्थित हुए थे । उस आयोजन की मनोरम भांकी आज भी मेरे चित्त-पटल पर अंकित है । इसमें सन्देह नहीं कि भाई नेमिचन्द्र जी इस संस्था के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं । उनकी अध्ययनशीलता, सूक्ष्म-बुद्धि और सतत कार्यरत रहने की क्षमता का ही यह सुपरिणाम है कि एक वर्ष बाद लगभग उसी रूप में पुनः यहाँ उपस्थित होने का सुभवसर मिला है । इन दोनों सम्मेलनों में यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि वह उक्त संस्था का हीरक-जयन्ती महोत्सव था और यह भारतीय जैन साहित्य संसद् के प्रथम अधिवेशन के रूप में हो रहा है । वस्तुतः ऐसे सम्मेलनों की अपनी महत्ता है । जैन परम्परा के प्राचीन गौरव को प्राप्त करने की दिशा में जहाँ हम प्रयत्नशील हैं वहाँ उसे भूतरूप देने की दृष्टि में देश-विदेश के विविध नगरों में मुनियोजित ढंग से ऐसे सम्मेलनों का होते रहना आवश्यक ही नहीं, उपयोगी भी है, इसे हमें नहीं भूलना चाहिए ।

आज की इस संगोष्ठी का मुख्य विषय 'जैन साहित्य-कला' है । इसके अध्यक्ष श्री डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन एम० ए०, एल-एल-बी०, पी-एच० डी० लखनऊ हैं । उन्हें इस संगोष्ठी का अध्यक्ष होने के लिए सादर आमन्त्रित किया गया, इसी से उनकी महत्ता स्पष्ट है । किन्तु कुछ आवश्यक कार्यवश इच्छा होते हुए भी वे इस सम्मेलन में उपस्थित न हो सके, यही कारण है कि कार्यकर्त्ताओं के अनुरोधवश उस स्थान की पूर्ति मुझे करनी पड़ रही है ।

डा० सा० का मुद्रित अभिभाषण सबके हाथ में है । अन्य उपयोगी विषयों और सूचनाओं के साथ उसमें प्रकृत विषय की प्राञ्जल शब्दों में स्पर्श किया गया है । उससे भारतीय परम्परा में

‘जैन साहित्य और कला’ की क्या महत्ता और उपयोगिता है, इसे हृदयंगम करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। उसके प्रकाश में इस समय में जो भी भाव व्यक्त कर रहा हूँ उन्हें मात्र उसका पूरक ही समझना चाहिए।

भारतवर्ष सदा से धर्मप्राण देश रहा है। आज भी इसकी यह विशेषता विश्व के लिए स्पृहा का विषय बनी हुई है। वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने इससे अनुप्राणित हो राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से अकिञ्चन इस देश की उम्र विशेषता को विश्व के मानस-पटल पर अंकित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर उसे सब दृष्टियों से पुनः संप्राण बनाने का प्रयत्न किया है। यदि वर्तमान भारतवर्ष को अतीत कालीन भारतवर्ष बन कर रहना है तो यहाँ की जनता और सरकार को उस और पुनः विशेष ध्यान देना होगा, जिसके कारण भारतवर्ष अभी तक समुन्नत संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। मेरे विचार से ‘साहित्य और कला’ ये दो ऐसे विषय हैं जो हमें भारतवर्ष के प्राचीन गौरव को याद तो दिलाते ही हैं, साथ ही इनकी महत्ता को ठीक तरह से समझने पर हमें अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करने में भी सहायता मिलती है।

प्रयाग का संगम प्रसिद्ध है। यह गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम माना जाता है। इसी प्रकार भारतवर्ष भी लगभग ढाई हजार वर्ष से जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म का संगम बना हुआ है। इसके पूर्व भारतवर्ष में मुख्यरूप से दो ही धर्म प्रचलित थे—जैन धर्म और वैदिक धर्म। जैनधर्म यह श्रमण-धर्म का नामान्वर है। यद्यपि वर्तमान काल में बौद्ध धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म माना जाता है, परन्तु प्राचीन तथ्यों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि यह धर्म भी श्रमण-परम्परा का एक परिवर्तित रूप है।

जैन धर्म की दृष्टि से विचार करने पर प्रकृत्या यह मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड पर आधारित न होने से इसका अनादि होना उतना ही सुमंगल है जितना लोक में अवस्थित आत्मादि प्रत्येक द्रव्य का अनादि होना सुमंगल है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल स्वभाव बदलता नहीं। यदि उसमें किसी प्रकार का विकार दृष्टिगोचर होता है तो वह मात्र अपने से विरुद्ध स्वभाववाली वस्तु के संयोग करने का ही दुष्परिणाम होता है। उसी प्रकार वस्तु-स्वभाव के आश्रित प्रवृत्त हुए जैन धर्म की मूल प्रकृति अनादि है। यदि उसमें कहीं किसी प्रकार का विकार (भेद-प्रभेद) दृष्टिगोचर होता है तो उसे मात्र विरुद्ध स्वभाववाली अन्य वस्तुओं (वस्तुश्रुति) के बुद्धिपूर्वक किये गये या अशुद्धि पूर्वक हुए संयोग से हानि न मानने का ही दुष्परिणाम समझना चाहिए।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में जैन धर्म का स्वभाव-धर्म के अनुरूप जितना धार्मिक साहित्य उपलब्ध होता है वह कितना प्राचीन है, इसकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती, क्योंकि साहित्य की आत्मा शब्द-रचना नहीं है, उसमें जिन तथ्यों का निर्देश किया गया है उनकी यथार्थता है। स्पष्ट है कि काल्पनिक साहित्य ही मात्र सादि होता है, यथार्थता को स्पर्श करनेवाला साहित्य नहीं। कोई ग्रन्थ किसी काल में लिखा गया, एतावता उसमें प्ररूपित तथ्य मात्र उस काल की देन हैं, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन धर्म का जितना भी धार्मिक साहित्य है वह शब्द-रचना की दृष्टि से काल-विशेष की मर्यादा को लिये हुए होकर भी वस्तुतः अनादि है। जैन आगम में तीर्थंकरों को अर्थकर्ता और गणधरों को ग्रन्थकर्ता इसी अभिप्राय से लिपिबद्ध किया गया है।

इतना सब होने पर भी जब हम ग्रन्थरूप में लिपिबद्ध हुए वर्तमान साहित्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें वह मात्र उन्हीं महर्षियों की कृति नहीं मालूम होती, जिन्होंने उसे प्राकृत, संस्कृत या अन्य किसी भाषा में लिपिबद्ध किया है। उदाहरणार्थ—आचार्य कुन्दकुन्दके समयप्राभृत को लीजिए। इसे लिपिबद्ध करते हुए वे इसकी प्रथम मंगल-भाषा में कहते हैं—‘मैं उस समयप्राभृत को कहूँगा, जिसे केवली धीर श्रुतकेवलो ने कहा है।’ यह एक उदाहरण है, समग्र जैन साहित्य की रचना का भोत क्या है यह इससे जाना जा सकता है। जिस प्रकार अन्य धर्मों के साहित्य में विविधता दृष्टिगोचर होती है, वैसे विविधता जैन धर्म के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती, इसका मूल कारण यही है कि अनुश्रुति के रूप में वह सुदीर्घ प्राचीन काल से एकरूप में चला आ रहा है। वर्तमान युग की दृष्टि से विचार करने पर उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से मानना सर्वथा उचित ही है, एक तीर्थंकरके बाद दूसरे तीर्थंकरके काल में उसकी अर्थरूप से प्ररूपणा होकर ग्रन्थरूपा से उसका पुनरुद्धार होता रहा है, इतना अवश्य है।

यह जैन धर्म के साहित्य का सामान्य पर्यालोचन है। वर्गीकरण की दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध साहित्य चार भागों में विभक्त है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, वरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जैन धर्म का प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में लिपिबद्ध जितना साहित्य है उस सबका समावेश उक्त चार प्रकार के वर्गीकरण में हो जाता है। इसके सिवाय जैनाचार्यों ने राजनीति, छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक आदि विविध विषयों पर भी विपुल मात्रा में मौलिक रचनाएँ की हैं। यह सब इस देश की अनमोल निधि है। आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में तो इससे सहायता मिलती ही है। नैतिक जागरण का भी यह प्रहरी है। यह इसकी प्रकृति है। अतीत काल से अब तक भारतवर्ष को आध्यात्मिक दृष्टि से जो स्वरूप मिला है उसे प्रमुख रूप से इसी की देन समझना चाहिए।

कला की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि जैन धर्म को केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस दिशा में अब तक जो भी कार्य हुआ है उसमें अपनी जिज्ञासों के अनुरूप विशिष्ट दृष्टिकोण को भुलाया नहीं गया है। मानव-जीवन के निर्माण में साहित्य का जो स्थान है, कला का उससे कम नहीं है। यह वह दृश्य है जो तत्काल आबाल-बद्ध मानव-मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अभी कई वर्ष पूर्व मैं देवगढ़ गया था। पहाड़ी पर तीर्थंकरों की मूर्तियों के दर्शन करते समय एक बालक मेरा साथ दे रहा था। कला की दृष्टि से वहाँ ऐसी अग्रणीत मूर्तियाँ दृष्टि-पथ में आवेंगी, जिन्हें देखते ही मालूम पड़ेगा कि ये हमसे कुछ कह रही हैं। एक मूर्ति के दर्शन कर भाव-विभोर हो बालक हमसे पूछता है—‘पण्डित जी ! यह देव-मूर्ति क्या कह रही है ? पहले तो जिज्ञासा-भाव से मैंने उसकी ओर देखा। उसके बाद उसकी बढ़ती हुई जिज्ञासा को जानकर मैंने उससे कहा—‘बेटा ! यह देवमूर्ति कह रही है कि तुम दूसरे को अपना जानकर उसकी सम्महल में तो सदा से लगे हो, पर कभी अपने को जानकर उसकी सम्महल में लगे ? आओ हमारे पास, हम तुम्हें बतलावेंगे कि अपने को जानकर उसकी सम्महल कैसे की जाती है।’

यह एक घटना है। इससे विदित होता है कि कला की मूर्तरूप प्रदान करने में जैन दृष्टिकोण क्या रहा है। ललित कला के नाम पर रतिक्रिया करते हुए वे इसी प्रकार के दूसरे दृश्यों को जैनों ने विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, यह हमें सूचना है। बहिर्मुख-निर्माण को केन्द्र में रखकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने मूर्तिकला, चित्रकला, भित्तिकला, पुस्तकला आदि में पर्याप्त रस लिया

है, इसमें सन्देह नहीं। वटखण्डागम में प्राचीन काल में स्थापनानिक्षेप के प्रसंग से कला के कितने प्रकार प्रचलित थे, इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैसे लकड़ी में उकीरे गये विविध कलात्मक रूप, चित्रकर्म, वस्त्रों को बुनने समय अंकित किये गये विविध मनोहारी दृश्य, लेप द्वारा बनाये गये विविध दृश्य, पर्वत-गुफा आदि में बनाई गई देवमूर्तियाँ आदि, अलग से पत्थर को गटकर बनाई गई देवमूर्तियाँ आदि, गृहों का निर्माण करते समय बनाई गई शिक्षाप्रद विविध देवमूर्तियाँ या दृश्य, विविध आकारों की लिये हुए गृहों का निर्माण, हाथी दाँत पर उकेरे गये विविध दृश्य तथा भांडे-वर्तनों में अंकित किये गये विविध रूप। (वेदना खण्ड, कृति अनुयोगद्वारा पु० ९)।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी मनुष्य का आकार कैसा विकृत हो जाता है, इसकी शिक्षा देने के अभिप्राय से भी तीर्थंकरों के मन्दिरों आदि में विविध चित्र बनाये जाते थे। वे कैसे होने चाहिये, इसका विचार करते हुए 'कसायपाहुड' पुस्तक एक में बतलाया है—जिमके ललाट पर तीन बनी पड़ गई हैं और जिसने भीह चढ़ा ली हैं ऐसे रष्ट मनुष्य का चित्र बनाना क्रोधी मनुष्य का चित्र है। उदत का मे मनुष्य को चित्रित करना मानी मनुष्य का चित्र है। भीतर कुछ छिपा रहा है, ऐसे भाव के साथ मनुष्य को चित्रित करना मायावी मनुष्य का चित्र है और पूरे धन आदि का स्वयं स्वामी बन जाना चाहता है, ऐसे भाव के साथ लक्ष्मण मनुष्य का चित्र बनाना लोभी मनुष्य का चित्र है।

जैनो के द्वारा निर्माण कराये गये तीर्थंकरों के मन्दिरों, शिलाखण्डों और गिरि-गुफाओं आदि में शिक्षाप्रद ये विविध दृश्य आज भी दर्शकों को दृष्टिगोचर होंगे। आप प्राचीन किसी भी जैन मन्दिर में चले जाइए। वहाँ एक ओर भित्ती पर आप देखेंगे कि एक बड़ा भारी बड़का वृक्ष है। उसे हाथी जड़पूल से उखाड़ना चाहता है। दो मफेद और काले चूहे उस टहनी को काट रहे हैं जिस टहनी के सहारे लटका हुआ एक मनुष्य ऊपर मधु के छत्ते से बीच-बीच में टपकने वाली मधुकी एक-एक बूँद का स्वाद ले रहा है। जहाँ वह मनुष्य लटका हुआ है वही नीचे जमीन में बने हुए एक खड्ड में पाँच विकराल साँप उसको ओर देख रहे हैं कि कब वह गिरे और उसे निगल जायें। मनुष्य की बाजू में आकाश में एक विमान है। उसमें बैठा हुआ मनुष्य उसे समझा रहा है कि तू इस मधुकी बूँद के स्वाद को छोड़, मेरे पास आजा, अन्यथा तेरा निस्तार नहीं है। किन्तु वह मनुष्य मधु-बूँद के उस क्षणिक स्वाद में ऐसा मस्त है कि उस सदुपदेष्टा की बात को बिल्कुल ही अनसुनी कर रहा है।

जैनो द्वारा निर्मित समग्र कलाका यह अनोखा शिक्षाप्रद रूप है। ऐसी शिक्षाप्रद कलाको जैनोंने उतना ही प्रोत्साहन दिया है जितना कि उन्होंने सर्वजीवानुग्रहकारी साहित्यके निर्माण की ओर ध्यान दिया है। जनता इस ओर कितना ध्यान देती है, इसकी उम्हें चिंता नहीं, वे अपने इस लोकोपकारी कर्तव्य-पथ पर सदा से चलते आये हैं और चलते रहेंगे। तीर्थंकरों और संतो की यही शिक्षा है।

मैंने आपका बहुत समय ले लिया। फिर भी आपने मेरी बात ध्यान से सुनी, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

साहित्य-कला संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० श्री ज्योतिप्रसाद जैन

विद्वद्बन्धुओं !

आज का युग अत्यन्त द्रुतगामी है। कभी अब से सौ वर्ष पूर्व ही बलगाड़ी, ऊँट गाड़ी-घोड़ा गाड़ी आदि ने सुगमतया मनुष्य का काम चल जाता था; किन्तु आज तो वायुयन्त्र-चालित स्थलयान और जलयान भी पुराने पड़ गये, और उनकी गति अत्यन्त मन्द प्रतीत होती है। जल और स्थल पर तो मनुष्य विजय पा ही चुका था, वह अब अन्तरिक्ष-विजय की चेष्टा कर रहा है। पृथ्वीतल का प्रत्येक भाग तो उसके लिये अत्यन्त संकुचित, सुगम एवं सुलभ हो ही गया है। सहस्रों मील की यात्रा कुछ ही घण्टों में अनायास सम्पादित की जा सकती है। वह तो सौरमण्डल के अन्य ग्रह-उपग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। यातायात के इन अत्यन्त द्रुतगामी साधनों ने इस पृथ्वीतल पर विद्यमान मानव जगत् को एक परिवार मरीखा बना दिया है। विश्व के किसी भी भाग में होनेवाली क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं के प्रभाव से उसके दूसरे भाग के निवासी अछूते नहीं रह पाते। विभिन्न देशों, जातियों एवं संस्कृतियों के इस निरन्तर एवं निकटतर सम्पर्क ने मनुष्य के दृष्टिकोण का विशाल बना दिया है और उसे स्व-अस्तित्वसंरक्षण के हित में सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि में स्वयं का मूल्यांकन करने के लिये बाध्य कर दिया है। आज यदि कोई कूपमण्डूक बना रहना चाहे तो यह अशुभव है। यदि वह वैसी चेष्टा करता है तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

युग की यह द्रुतशीलता, व्यस्तता एवं व्यापक-विस्तार जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में लक्षित होते हैं। ज्ञान-विज्ञान का भी जैसा प्रसार एवं विस्तार इस समय हो रहा है वैसा शायद पहले कभी नहीं हुआ था। प्रायः प्रत्येक विषय में अभूतपूर्व मोक्ष, खोज, अन्वेषण, अनुसंधान तथा विपुल एवं विविध साहित्य का निर्माण और प्रकाशन तेजी के साथ हो रहा है। कोई नवीन सामग्री तथ्य या अध्ययनीय विषय प्रकाश में आने भर को देर है, इस पर कार्य करनेवालों की कमी, इस देश में ही नहीं, विदेशों में भी नहीं है।

लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष के बाहर के लोग प्रायः यह भी नहीं जानते थे कि जैन-धर्म और संस्कृति नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। स्वयं भारतवर्ष में भी, पारसी, यहूदी, मुसलमान आदि की तो बात ही क्या, शैव-वैष्णव आदि तथा कथित हिन्दू भी उसके स्वरूप एवं वैभव से प्रायः अनभिज्ञ थे। तदनन्तर लगभग एक-सौ वर्ष की शोध, खोज, अन्वेषण एवं अध्ययन ने,

विकास बहुभाग खेय युरोपीय प्राच्यविदों को है; यह प्रमाणित कर दिया कि इस देश की अपनी प्राचीन संस्कृति वैदिक परम्परा-मात्र से उद्भूत ब्राह्मणीय (तथाकथित हिन्दू) संस्कृति ही नहीं है; वरन् एक अन्य भी शुद्ध एतद्देशीय सांस्कृतिक धारा है, जो पर्याप्त समर्थ, समृद्ध, व्यापक एवं सजीव है और जो कदाचित् उक्त ब्राह्मणीय धारा से भी प्राचीनतर है। इस श्रमण-संस्कृति के पुरस्कर्ता श्रमण तीर्थंकर थे। भारत के आद्य मानववंशी आर्यजन और विद्याधरवंशी नाग-ऋक्ष-यक्षादि उनके अनुयायी थे। उसमें विकास भी होता रहा, काल-दोष से विकार भी होते रहे और उन विकारों का समय-समय पर परिमार्जन भी होता रहा। ईस्वीपूर्व प्रथम सहस्राब्द के प्रथम पाद के अन्त (लगभग ७५० ई० पू०) तक इस श्रमण-परम्परा की मौलिकता एवं एकमूर्तता प्रायः अक्षुण्ण बनी रही प्रतीत होती है। उसके उपरान्त उसमें से कई उपधाराएँ फूटनी आरंभ हुई। इनमें से आजीवक आदि जो प्रमुख थीं वे भी अल्पाधिक समय के उपरान्त शुष्क एवं समाप्त हो गईं। सर्वाधिक प्रभावक एवं स्थायी उसकी बौद्धनामक उपधारा रही। प्रथम ६-७ शताब्दियों में वह इस देश में द्रुतवेग में फैली। दो-तीन-सौ वर्ष पर्वन्त सर्वाधिक प्रभावशाली भी रही। तदुपरान्त उसकी अवन्ति भी वैसे ही द्रुतवेग से हुई और १० वीं ११ वीं शताब्दी में यहाँ वह नामोशेष भी हो गई; किन्तु इस बीच भारत के बाहर एशिया के प्रायः अन्य सभी देशों में वह पूर्ण तरह छा गई। उसी श्रमण-संस्कृति की मूलधारा का प्रतिनिधित्व जैन संस्कृति चिरकाल से करती आई है। उसने अपनी मूलधारा में से उपयुक्त उपधाराओं को निकलते देखा। उनकी प्रतिद्वन्द्विता को सहन किया, ब्राह्मणीय परम्परा के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया एवं आदान-प्रदान भी किया, अनेक विषम परिस्थितियों को पार किया, आन्तरिक फूट भी देखी और अनुयायियों की संख्या में भी, विशेष कर दो-तीन सौ वर्षों में, पर्याप्त ह्रास देखा; तथापि अपने प्रवाह को अद्यावधि अविच्छिन्न बनाये रखा और अपने मूल रूप एवं मौलिक मूल्यों को प्रायः अक्षुण्ण रखा।

यह तथ्य भी प्रमाणित हो चुका है और इसकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्टि होती जाती है कि जनों का तत्त्वज्ञान, दार्शनिक चिन्ता, लोकोत्त अथवा लोकोन्नायक आचार, शान्तिपूर्ण ग्रहण जीवन दृष्टि, विपुल विविध साहित्य भंडार और कला-वैभव इस देश की किसी भी अन्य परम्परा की अपेक्षा हीन कोटि का अथवा उपेक्षणीय नहीं है; वरन् यह कि यदि उनका समावेश एवं समुचित अध्ययन नहीं किया जाता है तो समग्र भारतीय धर्म, दर्शन, आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास-पुरातत्त्व, साहित्य और कला का अध्ययन अपूर्ण, अधूरा और सदोष रहता है और उसका सही मूल्यांकन हो ही नहीं सकता।

प्रारंभ में यूरोपवासियों द्वारा पूर्वीय (एशियाई) देशों का जो सांस्कृतिक अध्ययन चालू हुआ वह प्राच्य-विद्या (ओरियंटल स्टडीज या ओरियंटलॉजी) कहलाया। भारतवर्ष में उक्त प्राच्य-विद्या ने शनैः शनैः भारतीय विद्या (इन्डोलॉजी) का रूप ले लिया। और, अब उक्त भारतीय विद्या के एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग के रूप में जैनविद्या (जैनोलॉजी) स्पष्ट से स्पष्टतर होती हुई अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर चुकी है। इसके स्वयं अपने अनेक अंग एवं पक्ष हैं और उनमें से प्रत्येक में अध्ययन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता चला जा रहा है। आज भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों में ही नहीं, यूरोप और अमेरिका के भी अनेक विश्वविद्यालयों में जैनाध्ययन एक स्वीकृत विषय बन चला है और अनेक ज्ञातक जैनोलॉजी के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध विषयों पर शोध, खोज, और अनुसंधान कर रहे हैं। जैनों की कई शोध-संस्थाएँ तथा कई जैन

विद्वान् व्यक्तिगत रूप से भी इस शोध-कार्य में यथाशक्य सहायक हो रहे हैं—इस प्रकार के लगभग एक दर्जन देशी-विदेशी शोधकर्ताओं से स्वयं मेरा सम्पर्क चल रहा है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जैनों में पुरानी परिपाटी के शास्त्रीय पंडितों की परम्परा समाप्त-प्रायः है। जो विद्यमान है उनमें से दो-चार श्रमधरों को छोड़कर शेष प्रायः एकाङ्गी हैं और समय की गति से बहुत पिछड़ गये हैं। किसी-किसी विषय में उनका अध्ययन अच्छे-से-अच्छे आधुनिक विद्वान् से भी अधिक गहन, गंभीर और तलस्पर्शी हो सकता है; किन्तु उनकी सङ्कीर्ण मनोवृत्ति, सीमित अध्ययन-परिधि, कदाग्रह एवं अहम् उन्हें आधुनिक युग की शोध-विद्या के लिये अनुपयुक्त एवं अनुपयोगी बना देते हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि गत दश-पन्द्रह वर्षों में नवीन शैली एवं विद्या के अनुसार विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्त्वावधान में विधिवत् सफल शोध-कार्य करके और डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित होकर अपने में एक-डेढ़ दर्जन के लगभग विद्वान् तैयार हो गये हैं। इन विद्वानों की अध्ययन-पिपासा अभी अतृप्त है, संस्कृति-संरक्षण और उसके प्रसार की उत्कट लालसा है, शोध-कार्य में होनेवाली—विशेष कर जैन विषयों से संबद्ध—कठिनाइयों एवं बाधाओं का उन्हें अनुभव है और इस बात की भी कटु प्रतीति है कि अत्यन्त परिश्रम, समय एवं मनोयोग की आहुति देकर जिस साहित्य का उन्होंने निर्माण किया है, करने है या कर सकते हैं उसको उत्तम प्रकाशन के रूप में देख पाना कितना दुष्कर है। शोध-कार्य एवं विशेषाध्ययन के लिये उपयुक्त एवं पर्याप्त संदर्भ-ग्रन्थों, ग्रंथालयों, पुस्तकालयों और विशेषज्ञों की भी अनिवार्य आवश्यकता है।

अतएव इन्हीं सब उद्देश्यों से प्रेरित होकर अभी कुछ मास पूर्व इस 'भारतीय जैन साहित्य संसद' की स्थापना हुई है। संसद के नाम से यह भारत के जैन पुस्तक-लेखकों की एक ट्रेड यूनियन-मी प्रतीत होती है; किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका यह रूप नहीं है और न वैसा कोई उद्देश्य। इसका घोषित लक्ष्य तो जैन संस्कृति के संरक्षण एवं प्रसार के हित में जैनाध्ययन को अधिकाधिक प्रगतिवान् बनाना, उसमें शांभकार्य करनेवाले विद्वानों को दिशा-दर्शन, सहायता, सहयोग आदि प्रदान करना, आवश्यक एवं तदुपयोगी साहित्य का निर्माण करना-कराना और उसके उपयुक्त प्रकाशन की व्यवस्था करना है। इसकी नीति साम्प्रदायिक भी नहीं है। वस्तुतः जैन-विद्या दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तारणपन्थी या तेरापन्थी मात्र नहीं है—ब्रह्म समग्र जैन विचार-धारा, साहित्य इतिहास, पुरातत्त्व और कला को समाविष्ट करती है। अतएव यही भाषा की जाती है कि यह संसद जैन-विद्या एवं जैनाध्ययन में समग्र रूप से निष्पक्ष एवं समदृष्टि रखेगी और इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले सभी विद्वानों से, चाहे वे किसी भी जैन सम्प्रदाय के अनुयायी हों अथवा देशी या विदेशी अर्जन हो, सम्पर्क और सहयोग स्थापित करेगी तथा इस क्षेत्र में हुए एवं किये जानेवाले समस्त कार्य और प्रवृत्तियों का पूर्णतया लाभ उठायेगी।

अपने इस प्रथम अधिवेशन के लिये संसद ने जो आरा का उर्वर क्षेत्र चुना है वह भी अकारण नहीं है। यतः आरा के निकट राजशृङ्ग और पावापुर पवित्र तीर्थस्थल हैं। राजशृङ्ग तो कुशाग्रपुर, पञ्चर्षलपुर आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस अति प्राचीन महानगरी का जैन-संस्कृति के साथ झट्ट सम्बन्ध है। बीसवें तीर्थक्षुर मुनिसुव्रतनाथ का यह जन्मस्थान रही है, इसीके निकटस्थ वन-पर्वतों में उन्होंने तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्त किया। २२वें तीर्थक्षुर नेमिनाथ के तीर्थ में यह नगरी प्रतिनारायण जरासंध की राजधानी थी और कई सौ वर्ष-पर्यन्त उसके वंशजों ने यहाँ राज्य किया। सातवीं शती ईसापूर्व के लगभग यहाँ शौशुनाग वंश की स्थापना हुई। अन्तिम

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के समय में इस महानगरी का शासक उसी वंश का महाराज श्रेणिक बिम्बिसार था । वह भगवान् महावीर का अनन्य भक्त एवं श्रावकोत्तम हुआ । उसकी पट्टरानी महारानी चेलना, जो भ० महावीर की मौसी भी थी, उनके आश्रित-पंथ की नेत्री हुई । श्रेणिक के भ्रम्यकुमार, आर्द्रकुमार, अजातशत्रु-कुणिक आदि पुत्र भी भगवान् के परम भक्त थे । बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय से ही राजगृह के मगध राज्य ने भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य का रूप लेना प्रारम्भ किया । उस काल (६ठी शती ई० पू०) में यह महानगरी न केवल भारतवर्ष का एक सर्वमहाम् राजनीतिक केन्द्र बन रही थी; वरन् सर्वमहाम् सांस्कृतिक केन्द्र भी बन गई थी । उस युग के सभी विचारक और धर्मप्रचारक यहाँ एकत्र होते थे और अपने-अपने मन्तव्यों का प्रचार करते थे । उस काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना भी इसी स्थल पर घटी—ईसापूर्व ५५७ को श्रावण कृष्ण प्रतिपदा, दिनांक १ अगस्त को प्रातःकाल इसी महानगरी के विपुलांचल पर निम्नस्थ जात्रिक पुत्र (निगठनात्पुत्त) भ० वर्द्धमान-महावीर ने, जो श्रमण-परम्परा के, अतः जैनों के अन्तिम तीर्थङ्कर थे, सर्वप्रथम अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और उनके इन्द्रभूति, गीतम आदि गणधर शिष्यों ने उनके उपदेशों का मार लेकर ऐतिहासिक जैन वाङ्मय के ग्रन्थ-प्रणयन का सन्तत किया । अस्तु, वर्तमान में उपलब्ध जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और कला का ऐतिहासिक स्रोत अन्तिम बार इसी परम पुनीत स्थल से प्रवाहित हुआ था । उनी मास्कृतिक स्त्रोत का संरक्षण करने एवं उसे प्रवहमान रखने के उद्देश्य से स्थापित संसद का प्रथम अधिवेशन विहार की इस पुण्य भूमि में सर्वथा उपयुक्त ही है । प्रस्तुत आरा नगर शिक्षा, संस्कृति एवं साहित्य-निर्माण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

संसद ने अपने अधिवेशन को जो यह दो विद्वद्गोष्ठियों (सेमिनारों) का रूप दिया है वह भी सर्वथा समीचीन है और उनके स्वरूप एवं उद्देश्यों के अनुरूप है । प्रथम गोष्ठी जैन साहित्य इतिहास और पुरातत्त्व से संबद्ध है और दूसरी जैन दर्शन, आचार एवं अध्यात्म से ।

‘जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व’ विभाग के अन्तर्गत नियोजित प्रस्तुत गोष्ठी का आज का विवेचनीय विषय है—‘जैनों का असाम्प्रदायिक साहित्य और कला ।’ इस शीर्षक से ऐसा ध्वनित होता है कि मानों जैनों का समस्त साहित्य और कला मुख्यतया साम्प्रदायिक ही है और उनमें यदि कुछ ऐसा है जो साम्प्रदायिक नहीं है वही यहाँ अपेक्षित है !

जैन साहित्य अथवा जैन कला का यह ‘साम्प्रदायिक’ और असाम्प्रदायिक जैसा विभाजन कुछ विचित्र-सा लगता है, विशेषकर जब कि भारत की अन्य धार्मिक परम्पराओं—ब्राह्मणीय (शैव, वैष्णवादि तथाकथित हिन्दू), बौद्ध, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि के साहित्य अथवा कला में प्रायः वैसा विभेद नहीं किया जाता । अब तो हिन्दू कला, बौद्ध कला, मुस्लिम कला जैसे नाम भी बहुत कम प्रयुक्त किये जाते हैं और युगानुसारी—प्राचीन भारतीय कला, पूर्वमध्यकालीन भारतीय कला, मध्यकालीन भारतीय कला, उत्तरमध्यकालीन भारतीय कला, आधुनिक भारतीय कला—नामों का ही प्रायः प्रयोग किया जाता है । कभी-कभी क्षेत्रीय या प्रादेशिक नाम, यथा—उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, पूर्वी, पश्चिमी अथवा गुजराती, बंगाली आदि; अथवा आर्य, द्रविड़ आदि भी प्रयुक्त होते हैं । विशिष्ट राजवंशों के नाम से भी कला-शैलियों का सृजन किया जाता है । यथा—मौर्यकालीन या मौर्यकला, शुङ्गकला, शक-कुषाण कला, गुप्त-कला, चालुक्य-कला, चोल-कला, होयसल-कला, मुगल-कला आदि । इस प्रकार साहित्य भी युगानुसारी—

प्राचीन, मध्यकालीन आदि, अथवा भाषावार—प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तामिल, आदि, अथवा विषयवार—दार्शनिक, आध्यात्मिक नीतिक, काव्य, तर्क, छन्द, व्याकरण, कोष, कथा, इतिहास, पुराण आदि विशेषणों के साथ तत्सदरूपी भारतीय साहित्य या बाङ्गमय के नाम से ही अभिहित किया जाता है। तब इस संसद् ने जैन साहित्य और कला के क्षेत्र में साम्प्रदायिक भेद की कल्पना क्यों की ? इसके भी कारण हैं :—

भारतीय साहित्य/ एवं कला के उदय, विकास, वर्णन, इतिहास, मूल्यांकन आदि से सम्बद्ध जितने ग्रन्थ लिखे गये वे प्रारम्भ में यूरोपीय विद्वानों द्वारा ही लिखे गये। उन विद्वानों ने साम्प्रदायिक असाम्प्रदायिक जैसा कोई विभेद नहीं किया, या तो प्रमुख धार्मिक परम्पराओं—हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि के आधार से अथवा प्रसिद्ध राज्यवंशों के आधार से या फिर विभिन्न युगों के आधार से ही विवेचन किया। किन्तु उसके उपरान्त इन विषयों पर जो विपुल साहित्य आये दिन प्रकाश में आ रहा है, भले ही उसका आधार उपर्युक्त पाश्चात्य कृतियों ही अधिकतर हैं, वह अधिकांशतः जैनैतरों विशेषकर तथाकथित हिन्दू-धर्मियों द्वारा रचा जा रहा है। इन लेखकों को, न जाने क्यों हिन्दू साहित्य और कला को, चाहे वह कितना ही धार्मिक या साम्प्रदायिक क्यों न हो—असाम्प्रदायिक अथवा केवल भारतीय साहित्य और कला कहने की, और जैन-बौद्धादिक, विशेष कर जैनो के साहित्य और कला को सेक्टेरियन या साम्प्रदायिक कहने की कुटव पड़ गई है। वेद, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत, दार्शनिक सूत्र, सब भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य है और प्राचीन जैनो द्वारा रचित लौकिक साहित्य भी धर्म-विशेष का साम्प्रदायिक साहित्य है। शिव, विष्णु और मूर्त्य के मंदिर भारतीय कला के नमूने हैं; किन्तु जैन मन्दिर, स्तूप, निपस्था, आदि जैनो की धार्मिक कला है। आश्चर्य की बात है कि वही रामचरित वाल्मीकि की रामायण या तुलसीदास के रामचरितमानस के रूप में तो असाम्प्रदायिक है, सर्वश्रेष्ठ काव्य है और भारतीय साहित्य का अमूल्य रत्न है; किन्तु विमलमूरि का प्राकृत पद्यचरित्र, रविशेण का संस्कृत पद्यचरित, स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण, पम्प की कन्नड रामायण, आदि साम्प्रदायिक या सेक्टेरियन ग्रन्थ हैं और शुद्ध साहित्य की दृष्टि से उनके मूल्याङ्कन की कोई आवश्यकता ही नहीं। पार्श्वाम्युदय एक साम्प्रदायिक कृति है और मेघदूत एक श्रेष्ठ लौकिक ग्रन्थ है ? संस्कृत, हिन्दी आदि किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी आधुनिक साहित्यिक इतिहास को उठाकर देखें, प्रथम तो उनमें जैन लेखकों और उनकी कृतियों का बहुत कम उल्लेख प्राप्त होगा; जो होगा भी वह सदीर्घ, अपूर्ण एवं भ्रामक और बहुधा इस टिप्पण के साथ 'जैन साम्प्रदायिक'। बनारसीदास के 'नाटक समयसार' को एक नाटक और 'अर्थकथानक' को एक साम्प्रदायिक धर्म-ग्रन्थ के रूप में उल्लेख हुआ हमने देखा है। कबीर की रचनाएँ साम्प्रदायिक नहीं हैं और जोइन्दु या रामसिंह की शुद्ध साम्प्रदायिक है ? इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्रायः यही स्थिति कला के क्षेत्र में है।

वस्तुतः, भारतवर्ष की ही नहीं, प्रायः समस्त सभ्य संसार की आधुनिक काल से पूर्व का जितना भी साहित्य है और जितनी भी कलाकृतियाँ हैं वे अधिकांशतः लक्ष्य या अलक्ष्य रूप से धर्माश्रित ही हो रही हैं। मुसलमानों के आने के पूर्व इस देश के विभिन्न युगों एवं भागों में ब्राह्मण (हिन्दू), जैन और बौद्ध ये ही तीन प्रधान धार्मिक परम्पराएँ थीं। उस समय तक के समस्त भारतीय साहित्य और कला का सृजन उन्हीं के अनुयायियों ने किया था। जनता के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष इन तीनों में से ही किसी-न-किसी के परम्परागत अथवा नव-दीक्षित भक्त होते थे। किन्तु जनमाधारण

का समस्त जीवन मात्र यम पर ही केन्द्रित नहीं था—अधिकांश तो इहलौकिक ही था। उनके लौकिक जीवन की आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ और प्रवृत्तियाँ भी प्रायः समान ही थीं। उनके प्रबुद्ध नेता और विचारक जन-जीवन के स्पंदन के अनुभव से अछूते नहीं रह सकते थे। अतएव उन्होंने जो साहित्य-सृजन किया वह जन-जीवन के उत्थान और कल्याण को ही नहीं, उसकी सन्तुष्टि एवं रंजन को भी दृष्टि में रखकर किया। उनके कलाकारों द्वारा कलाकृतियों के निर्माण में भी ये ही तीनों दृष्टियाँ प्रेरक रहीं। यही कारण है कि उस काल की तीनों ही परम्पराओं के साहित्य और कला में, और तदुत्तर काल में भी हिन्दुओं और जैनों के (मध्यकालीन) साहित्य और कला में जन-सामान्य की भावनाएँ और आदर्श परिलक्षित होते हैं। उनकी कृतियों पर उनके अपने-अपने धार्मिक संस्कारों, आदर्शों, विचारों एवं मूल्यों की छाप तो पड़ती ही थी, और इसी कारण उनमें परस्पर अन्तर भी लक्षित हुए। किन्तु एतावतमात्र से एक साहित्यिक की कलाकृति लौकिक या असांम्प्रदायिक कहलाये और दूसरी धर्मविशेष से सम्बद्ध शुद्ध सांम्प्रदायिक—यह एक विचित्र बात है !

इस वस्तुस्थिति का कारण यही हो सकता है कि वर्तमान जैनों की संख्या तथाकथित द्विन्दु-धर्मियों की संख्या का लगभग एक प्रतिशत ही रह गई है। भारतीय संघ की पूरी जनसंख्या की अपेक्षा वह और भी कम है। उनकी शान्ति और प्रभाव भी उसी अनुपात में पर्याप्त न्यून है। इस पर यह छोटा-सा समाज कई सम्प्रदायों में बँटा हुआ है, जिसमें परस्पर यथेष्ट सौहार्द एवं एकोद्देश्यता का भी प्रायः अभाव दृष्टिगोचर होता है। विविध विषयों के वर्तमान प्रामाणिक जैन लेखकों की संख्या भी प्रायः नगण्य है। यदि प्रतिवादरूप कभी कभी कोई कुछ लिखता भी है तो वह नकारखाने में तूती की आवाज होकर रह जाता है।

अस्तु, विवक्षित विषय पर विचार करने के लिये कुछ मौलिक अन्तःधारणाओं के निरसन का प्रयास आवश्यक है जो निम्नोक्त तथ्यों को हृदयंगम करने और कराने से हो सकता है—(१) जैन धर्म जिस अमरण-परम्परा का इतिहास-काल के प्रारम्भ के पूर्व से ही अविच्छिन्न, सजीव एवं सफल प्रतिनिधित्व करता रहा है वह विणुद्ध भारतीय परम्परा है, अत्यन्त प्राचीन है, वह मानव-परम्परा है, अवैदिक आर्य है और संभवतया वैदिक धर्म एवं सभ्यता के उदय के पूर्व से ही विद्यमान है। (२) इतिहास-काल में प्रारम्भ से लेकर उत्तर मध्यकाल पर्यन्त जैन धर्म का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण देश में, उसके समस्त वर्गों एवं जातियों में था—कहीं और कभी, अधिक, और कहीं और कभी कम किसी-किसी युग और प्रदेशों में तो सम्पूर्ण जनसंख्या का एक तिहाई से भी अधिक जैनों का अनुपात रहा है और यदि शुद्ध आदि परिगणित एवं पिछड़ी जातियों एवं आदिम निवासियों को छोड़ दिया जाय तो तथाकथित हिन्दू द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की अपेक्षा वह अनुपात पर्याप्त अधिक रहा है। (३) जैनों की जो अत्यन्त संख्या (लगभग ३० लाख) वर्तमान में रह गई है उसका कारण उनकी संख्या में होनेवाला वह ह्रास है जिसका प्रारम्भ मध्यकाल के प्रारम्भ में हो गया था और जिसका वेग गत १८वीं और १९वीं शताब्दियों में अत्यधिक बढ़ा। इस ह्रास का कारण शीवों, वैष्णवों, लिंगायतों, मुसलमानों और ईसाइयों की क्रुपा दृष्टि रहो है जिनकी सबकी संख्या जैनों के बूते पर ही पर्याप्त बड़ी हैं। (४) विणुद्ध ऐतिहासिक काल (६०० ई० पू०) से पूर्व की अनुश्रुतियाँ एवं ऐतिहासिक परम्पराएँ, विशेष कर अमरण-धारा से सम्बद्ध, जैनों ने उमी प्रकार सुरक्षित रखी हैं जिस प्रकार वैदिक परम्परा के अनुयायियों ने अपनी परम्परा को सुरक्षित रखा है।

(५) ऐतिहासिक भारतीय साहित्य एवं कला का प्रारम्भ एवं विकास जैन, बौद्ध और तथाकथित हिन्दुओं ने ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्द में प्रायः साथ-ही-साथ, समान उत्साह एवं मनोयोग के साथ किया। (६) जैन साहित्य की मौलिक परम्परा वेदों की रचना के बहुत पूर्व भ० ऋषभदेव के समय तक पहुँचती है। उनका ग्रन्थ-प्रणयन कम-से-कम गौतम गणेश्वर (लगभग ५०० ई० पू०) तक और लिखित साहित्य की परम्परा भी ४वीं-३री शती ई० पूर्व तक पहुँचती है। उसके पूर्व हिन्दुओं और बौद्धों की भी तत्तत् परम्पराएँ नहीं पहुँचती (७) कला के क्षेत्र में, यदि सिन्धुघाटी की प्रागैतिहासिक एवं विवादास्पद कला-कृतियों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी स्तूपों, चैत्यों, पर्वतीय गुफाओं, देवमन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण जैनों ने पहिले प्रारम्भ किया, उसके बाद ही बौद्धों और हिन्दुओं ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। (८) जैन पुरातत्त्व एवं जैनों का विविध कला-बैभव इस देश के कोने-कोने में व्याप्त है और वह प्रायः सभी युगों और शैलियों का प्रतिनिधित्व करता है। (९) विभिन्न भाषात्मक रसमय एवं विविध विषयक विपुल साहित्य देश के विभिन्न जैन शास्त्र-भंडारों में अभी भी उपलब्ध है, उसका बहुभाग अभी भी अप्रकाशित है एवं अल्पप्रचारित है। (१०) जन-जीवन को स्पर्श करने के उद्देश्य से ही जन-भाषाओं—प्रादेशिक भाषाओं में प्रचार करने एवं साहित्य-सृजन करने में जैन समस्त भारतीयों में अत्यंत प्राचीन काल से लेकर वर्तमान पर्यंत सर्वाग्रणी रहे हैं।

इस दण्डमूत्री को ध्यान में रखते हुए जैनों द्वारा रचित एवं ज्ञात साहित्य का यदि उन अजैन लेखकों की दृष्टि से ही देखा जाय तो इसे धार्मिक और लौकिक दो वर्गों में स्थूल रूप से विभाजित किया जा सकता है। धार्मिक वर्ग के अन्तर्गत मंत्र-तंत्र, पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा-ग्रन्थ, व्रत-ग्रन्थानादि, मुनिचर्या, लोकालोक-वर्णन एवं शुद्ध तत्त्वज्ञान संबंधी रचनाएँ आती हैं। उसमें आगम और आगमिक साहित्य को, जो निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, शंका, पंजिका, टिप्पण आदि रूप व्याख्या-साहित्य से अत्यन्त समृद्ध एवं विपुल है, गणित किया जा सकता है। किन्तु इस साहित्य में भी प्रसंगवश अग्रणीत सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा अन्य लौकिक तथ्य प्राप्त होते हैं जो तथाकथित असाम्प्रदायिक अथवा लौकिक ज्ञान-विज्ञान के विकास एवं इतिहास के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण मिद्ध होते हैं। इन दोनों प्रकार के साहित्य के अतिरिक्त जितना अन्य जैन साहित्य है, जो पर्याप्त विविध एवं विशाल है, उसे प्रायः सबको असाम्प्रदायिक कहा जा सकता है। पुराण-पुरखों के जितने चरित ग्रन्थ हैं, उनमें जहाँ-कहीं प्रसंगवश जैन तत्त्वज्ञान, आचार, लोकालोक, कालचक्र, धार्मिक क्रियाओं आदि का वर्णन है, उन्हें छोड़कर शेष कथाभाग रुचिकर, लोकरंजक एवं तत्कालीन लोकदशा एवं संस्कृति का परिचायक है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, सुभाषित, चम्पू, नाटक, आदि विभिन्न साहित्यिक विधा के आश्रय से रचा गया यह साहित्य अन्य तथाकथित भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य के पूर्णतया समकक्ष है। स्वतंत्र एवं फुटकर जैन कथा-साहित्य का बहुभाग लोक-कथाओं से समन्वित है। जैनों की स्तुति-स्तोत्र आदि भक्तिपरक रचनाएँ भावुकता एवं भावप्रवणता में अन्य समकोटि साहित्य जैसी ही लोकोन्नायक है। दर्शन एवं न्यायशास्त्र विषयक जैन दार्शनिक ग्रन्थ भारतीय चिन्तन के अध्ययन के लिये उसी प्रकार उपयोगी एवं असाम्प्रदायिक हैं जैसे कि न्याय-सांख्य, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं अथवा इंडियन फिलासफी पर लिखे जानेवाले आधुनिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त, तर्क, छन्द, व्याकरण, कोष, अलंकार काव्यशास्त्र इत्यादि विषयों पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल, हिन्दी आदि भाषाओं में रचित जैन साहित्य तो शुद्ध

असाम्प्रदायिक माना ही जायेगा। इसी प्रकार गणित, ज्योतिष, भूगोल-खगोल, सामुद्रिक, चिकित्सा-शास्त्र—मनुष्यों का ही नहीं पशुओं का भी, पदार्थ-विज्ञान, पशु-पक्षि-शास्त्र, रत्नपरीक्षा, सूषसार, शिल्प-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, बाणिज्य-शास्त्र, नीति, अर्थशास्त्र, ऐतिहासिक जीवन-चरित, आर्यचरित, इतिहास-ग्रन्थ, इत्यादि कौन ऐसा विषय है जिस पर उन युगों में किसी अन्य परम्परा के विद्वानों ने लिखा और जैनो ने न लिखा हो ! जैनो द्वारा इन विषयों पर रचित साहित्य शुद्ध असाम्प्रदायिक हैं, साथ ही पर्याप्त महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक भी।

वास्तव में जिसे 'असाम्प्रदायिक' साहित्य कहना चाहिये वह अपने सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सम्प्रदायों के विषय पर रचित साहित्य है, और उसमें भी जैन विद्वानों ने ब्राह्मण-परंपरा के षड्दर्शनो पर ग्रन्थ रचे, ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी, जैनतरो द्वारा रचित व्याकरण-कोषादि तथा कव्य-ग्रन्थों की भी सुप्रसिद्ध टीकाएँ रची। महाकवि कालिदास को यदि मल्लिनाथमूरि जैसा जैन टीकाकार न मिलता तो शायद उसकी वह प्रसिद्धि न हों पाती, जो हुई। अनेक महत्वपूर्ण अजैन ग्रन्थ जैन भंडारों और जैन टीकाकारों की कृपा से ही सुरक्षित रह पाये। आधुनिक युग में भी सैकड़ों जैन विद्वानों ने विशुद्ध लौकिक विषयों पर वैज्ञानिक एवं कलात्मक साहित्य-सृजन किया है और कर रहे हैं।

जहाँ तक जैन का प्रश्न है, विशुद्ध असाम्प्रदायिक, धर्मनिरपेक्ष या लौकिक कला, जो जन-साधारण या व्यक्तिविशेष के रंजन अथवा उपयोग के लिये हो उसका तो जैन भी उसी प्रकार निर्माण करते और कराते रहे हैं, जैसा कि अन्य जन। किसी नरेश ने यदि नगर-निर्माण किया, किसी ने दुर्ग या प्रानाद बनवाया, या जन-हित में कूप, बापी, तड़ाग, कुल्या, बांध, पुल आदि बनवाये, तो यदि वह जैन था तो उसकी ये कृतियाँ जैन नहीं हो जाती, वह हिन्दू या बौद्ध था तो वे हिन्दू और बौद्ध नहीं हो जाती। बड़े-बड़े प्रतापी जैन नरेश और सम्राट् हुए हैं, उन्होंने इन सब वस्तुओं का निर्माण किया है; किन्तु उन्हे किसी भी धार्मिक परम्परा से सम्बद्ध करना अनुचित है। शेष समस्त कृतियाँ प्रायः धर्माश्रित ही होती थी, चाहे किसी भी परम्परा से वे सम्बद्ध क्यों न हो। अतएव जिन्हें जैन कलाकृतियाँ कहा जाता है उनमें से जैनों द्वारा निर्मापित स्तूप, चैत्य, गुहामंदिर, लेण, देवालय, मंडप, विहार या मठ अथवा सांस्कृतिक अधिष्ठान, निषद्याएँ, मानस्तंभ आदि स्थापत्य कला के और अर्हन्तों अथवा तीर्थङ्कर-विशेषों की प्रतिमाएँ, शासनदेवताओं, यक्ष-यक्षिणियों, अन्य जिन-भक्त देवी-देवताओं तथा उपासक-उपासिकाओं की मूर्तियाँ, पुराण-कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं या लोक-जीवन संबंधी दृश्यों के प्रस्तराङ्कन, अन्य नानाविध मूर्त अलङ्करण, जिनमें जीवजगत—पशुपक्षी आदि, वनस्पतिजगत—फलपुष्प वृक्ष आदि अथवा प्राकृतिक नदी, सरोवर, पर्वतादि तथा अनेक प्रतीक आदि उत्कीर्ण किये गये हैं; जैन मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण हैं। विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में प्रचलित विविध शैलियों में इन कलाकृतियों का निर्माण हुआ है। कलाकार जैन भी होते थे और अजैन भी; किन्तु जिस उद्देश्य से और जिसकी प्रेरणा से उक्त कृति का निर्माण करना होता उसका वे ध्यान रखते ही थे। लोक-प्रचलित रुचियों एवं शैलियों को भी वे अपनाते थे, जो आपत्ति-योग्य स्थल-या प्रसंग नहीं होते, वहाँ वे कला में अपनी स्वतंत्रता भी प्रदर्शित करते। अतएव जिन प्रतिमाओं तथा विविध शास्त्रीय मूर्तियों को छोड़कर अन्य मूर्तिकां में, विशेषकर जिन-मन्दिरों की छतों, दीवारों, स्तंभों, द्वारों, तोरणों, स्तूप आदि को वेष्टित करनेवाली वेदिकाओं के स्तंभों एवं मूर्तियों आदि के अलङ्करण में स्वतंत्रता, लोकरञ्जक कलावैशिष्ट्य इत जैन कृतियों में भी प्रचुर मात्रा में

में प्राप्त होता है। यथा लज्जुराहो के मंथिरीं, देवगढ़ के स्तंभों और विशेषकर मथुरा के वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण शालभंजिका, पुष्पचयनमग्ना प्रसाधनरता, नृत्यवती, दाम्पत्य-केलि-मुग्धा, शुकसारिका-सहकीड़ासंलग्ना इत्यादि विविध नारीरूप भी उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार चित्रकला जिनमंदिरों एवं गुहामंदिरों की भित्तियों की सजाने में, कथा-ग्रन्थों को सचित्र करने में तथा अन्य ग्रन्थ-प्रतियों के अथवा विज्ञप्ति-पत्रों के अलङ्करण आदि में विकसित हुई और बहुधा अपने विषय के अनुसार 'असाम्प्रदायिक' ही रही। जिन-भक्ति के प्रसंग से जैनो ने बाद्य एवं गेय संगीत की विधाओं को भी प्रोत्साहन दिया। संस्कृत, प्राकृत, अवभ्रंश, प्राचीन हिन्दी, राजभाषा, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, अवधि, खड़ी बोली, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम प्रभृति भारतीय भाषाओं में क्रमबद्ध वाङ्मय का प्रणयन करनेवाले जैन लेखक किसी एक जाति और वर्ग से नहीं आये। ये राजपरिवार से लेकर किसान की कुटिया तक तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ, प्रभृति सभी जातियों से आये हैं। साहित्य में चित्रित पात्र भी सभी जाति और वर्गों के हैं। सम्पन्नदर्शन-सम्पन्न मातङ्ग को भी देवतुल्य कहा गया है। यतः चारित्र-विकाश की सभी संभावनाएँ इस वाङ्मय में गवाधिक निरूपित हैं। विधाओं की दृष्टि से केवल संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य लगभग पचास आज उपलब्ध हैं। जबकि संस्कृत-साहित्य के इतिहासकार पन्द्रह से अधिक महाकाव्यों का परिचय प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इसी प्रकार उच्च कोटि के रसमय काव्य प्राकृत, अवभ्रंश, प्राचीन हिन्दी और कन्नड़ में सी से कम नहीं है। जनिता साहित्य की दृष्टि से जैन वाङ्मय बहुत ही समृद्ध है। भाषाविज्ञान, संस्कृति, इतिहास और काव्यानन्द की दृष्टि से नैकड़ो जैन ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। जैनो में एक-एक ऐसा लेखक और कवि है, जिनने अपने जीवन में एक लाख श्लोक लिखे हैं। आचार्य वीरसेन ने अकेले ही अपने जीवन में एक लाख श्लोक-प्रमाण टीका लिखी है। इनकी विश्वसाहित्य में ध्वला और जयध्वला टीकाएँ विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उल्लेख्य हैं। अतः जैन साहित्य के अध्ययन, अनुशीलन और अन्वेषण की आज आवश्यकता है। शोध-खोज के लिए जैन साहित्य में सैकड़ों विषय हो सकते हैं। अभी तक जो भी कार्य हुआ है, वह समुद्र में एक बून्द के समान है।

इसमें प्रायः कोई सन्देह नहीं है कि जैनो का उपर्युक्त 'असाम्प्रदायिक' साहित्य एवं कलाकृतियाँ अपनी बहुलता, विविधता, महत्त्व एवं उपादेयता की दृष्टि से अन्य किसी भी भारतीय परम्परा के साहित्य एवं कला की अपेक्षा हीन, निम्न कोटि की या गौण समझे जाने के योग्य नहीं हैं। किन्तु उनका सम्यक् अध्ययन एवं मूल्याङ्कन नहीं हो पाया है। अभी तक उनके प्रामाणिक विवरण भी तैयार नहीं हो पाये हैं, जो कुछ योरोपीय प्राच्यविदों ने लिख दिया है उसका भी विधिवत् संकलन एवं समीक्षा नहीं हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य एवं कला दोनों ही क्षेत्रों में, व्यवस्थित विषय-विभाजन करके समर्थ विद्वान् उनका पृथक्-पृथक् सूक्ष्म एवं घनीभूत करके सर्वेक्षण-पर्यवेक्षण करें और उसके आधार पर प्रामाणिक विवरण तैयार किये जायें। दूसरे त्रत्येक वर्ग की साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों का विवेचन एवं मूल्याङ्कन उसके समकालीन एवं पूर्वापर समकक्ष कृतियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाय। इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन करने की भी आवश्यकता है कि जैन तो एक छोटा-सा प्रति गौण धार्मिक सम्प्रदायमात्र है; अतएव इसके जो भी सांस्कृतिक योगदान हैं वे सेक्टेरियन साम्प्रदायिक या धर्माविशेष मात्र से संबद्ध ही हैं। यदि यह भारतीय जैन साहित्य

संसद् द्वारा के देवकुमार रिसर्च इंस्टीट्यूट जैसी पुरानी प्रतिष्ठित संस्था को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाकर उनमें उपर्युक्त दिशा-संकेतों का समावेश करले तो उसके भूलभूत उद्देश्यों की बहुत कुछ पूर्ति हो जाय ।

मैंने इस विवेचन में जैनों के तथाकथित असाम्प्रदायिक साहित्य और कला का, जो इस गोष्ठी का प्रकृत विषय है, संकेत-मात्र-सूचन ही किया है, उक्त साहित्य और कला के वर्गोक्त विस्तार में मैं नहीं गया, क्योंकि वैसा करना गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों के अधिकार-क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश करना होता । अपने-अपने विषयों पर, आशा है, वे विस्तार से प्रकाश डालेंगे ही ।

अन्त में, मैं संसद् के कार्यकर्त्ताओं भाई डा० नेमिचन्द्र जी आदि का, इस अधिवेशन के नियोजक बा० सुबोधकुमार जी का; प्रस्तुत गोष्ठी के संयोजक भाई डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल का तथा समस्त उपस्थित मजनों का हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मेरी अयोग्यता एवं अक्षमता की उपेक्षा करके मुझे इस गोष्ठी का अव्यक्षीय पद देकर गौरवान्वित किया है और मेरी बात शांति के साथ सुनने की कृपा की है । मेरी हार्दिक कामना है कि 'भारतीय जैन साहित्य संसद्' अपने सद्विदेश्यों की पूर्ति से उत्तरोत्तर प्रगतिशील होती जाय ।

जय सर्वज्ञ !



साहित्य-कला-संगोष्ठी के संयोजक डा० कस्तूरचन्द्र कामलीवाल

का

भाषण

आदरणीय डा० शर्मा, माननीय अध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वत्वरग भाइयो एवं बहिनो !

भारतीय जैन साहित्य संसद के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर आयोजित जैन साहित्य-कला संगोष्ठी के संयोजन का भार डाल कर मेरा जो सम्मान बढ़ाया है उसके लिये मैं आप लोगों का पूर्ण आभारी हूँ। यद्यपि मैंने मान्य डा० नेमिचन्द्र जी संयुक्त-संयोजक भारतीय जैन साहित्य संसद से ही उस कार्य को सम्पन्न करने का बार-बार निवेदन किया था। लेकिन उन्होंने मेरे नम्र निवेदन को न मानते हुए मुझे ही इस कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया। इस संगोष्ठी को सफल बनाने में अधिकांश कार्य उन्होंने ही किया है, इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आपने अभी माननीय डा० शर्मा सा० एवं पं० फूलचन्द्र जी सा० के सारगर्भित भाषण सुने। दोनों ही विद्वानों ने जैन साहित्य की महत्ता, उसके प्रकाशन एवं प्रचार पर जो विस्तृत प्रकाश डाला है वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मैं आशा करता हूँ कि साहित्य संसद उनकी योजना को मूर्त रूप देगा। जैन साहित्य एवं कला भारतीय साहित्य एवं कला का एक प्रमुख अंग है। इसलिये जब तक यह अंग पूर्णतः प्रकाश में नहीं आवेगा, उसके विविध पक्षों पर खोज नहीं की जावेगी, उसका अज्ञान एवं अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित नहीं किया जावेगा तथा भाषा-विशेष के इतिहास में एवं कला के इतिहास में उसे उचित स्थान नहीं मिलेगा; तब तक उस इतिहास को भारतीय साहित्य के विविध अंगों का प्रतिनिधित्व करने वाला इतिहास नहीं कहा जा सकता। वह अपूर्ण इतिहास ही माना जावेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि जैन विद्वानों एवं मान्य आचार्यों द्वारा निबद्ध साहित्य को उचित स्थान मिले और उसे केवल धार्मिक साहित्य समझ कर अब तक उसकी जो उपेक्षा की जाती रही है उसका सर्वथा त्याग किया जावे।

जैन आचार्यों एवं विद्वानों ने सदा ही अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का जीवन साहित्य के माध्यम से ऊँचे उठाने का प्रयास किया है। ये विद्वान् एवं आचार्य विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की कृतियों की जनता द्वारा मांग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते और उसे अपनी आत्मानुभूति द्वारा परिप्लावित कर देते। कभी उन्होंने पुराण-ग्रन्थ लिखे तो कभी काव्य-ग्रन्थों को लिखने में अपनी लेखनी चलायी। ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, रस, अलंकार आदि भी उनके प्रिय विषय

रहे। सुभाषित, उपदेशी, स्तोत्र, बत्तीसी, छत्तीसी आदि के रूप में उन्होंने कितने ही ग्रंथों का निर्माण किया। इन विद्वानों एवं आचार्यों ने संस्कृतों की संस्था में हिन्दी एवं राजस्थान की भाषा में चरित एवं कथा-ग्रंथों की तथा फागु, बेलि, शतक एवं बारहखडी, बारहमासा आदि के रूप में रचनायें संरचित करके पाठकों को अध्यात्म-रस का पान कराया। प्रान्तवाद एवं भाषा-विशेष के भगड़े में ये कभी नहीं पड़े; क्योंकि इन विद्वानों की साहित्य-सर्जना का उद्देश्य तो सदैव ही आत्म-संतोष एवं जन-कल्याण का रहा है। जैन आचार्यों, सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य-सर्जन के अतिरिक्त साहित्य-संग्रह एवं उसकी सुरक्षा में इतनी अधिक रुचि ली कि आज भी राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार, देहली एवं दक्षिण भारत में संस्कृतों की संस्था में ग्रन्थ-संग्रहालय है। और इन जैन संग्रहालयों में मेरे अनुमान से दस-लाख से कम हस्त-लिखित प्रतियाँ नहीं होंगी। प्रकेले राजस्थान में १५० से अधिक ग्रन्थ-संग्रहालय हैं और उनमें २ लाख के करीब हस्त-लिखित ग्रंथों का संग्रह होगा। लेकिन दुःख इस बात का है कि साहित्य की इस अमूल्य निधि की ओर अब तक जैन एवं जैनतर विद्वानों का बहुत कम ध्यान गया है। न तो अभी उनकी कोई व्यवस्थित सूचियाँ बन कर प्रकाशित हुई हैं और न उनमें संग्रहीत अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य पर कोई प्रकाश डाला जा सका है। अभी मुझे राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने एवं श्री महावीर क्षेत्र के शोध-संस्थान को और से राजस्थान के इन भण्डारों को देखने एवं उनकी सूचियाँ बनाने का अवसर मिला। उस अवसर पर हिन्दी एवं अपभ्रंश की संस्कृत अज्ञात एवं अप्रकाशित रचनायें प्राप्त हुईं। संस्कृत ग्रंथों की प्राचीनतम प्रतियाँ इन भण्डारों में संग्रहीत हैं। इसलिये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में भी विद्वानों को जैन भण्डारों में संग्रहीत साहित्य की खोज करनी चाहिये। और तभी जाकर हमें साहित्यिक क्षेत्र में नव-उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी। मैं उन्हें राजस्थान में एवं विशेषतः जयपुर में पधारने का निमन्त्रण देता हूँ तथा उनके खोज के सम्बन्ध में पूर्ण सहयोग देने का विश्वास देता हूँ।

इन जैन साहित्यकारों ने साहित्य-जगत् को जो रचनायें भेंट की हैं वे सभी उच्च स्तर की हैं। वे विविध विषयों पर लिखी गयी हैं तथा उनमें विषय का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। संस्कृत-साहित्य को ही लीजिये। उसमें निबद्ध कृतियाँ दर्शन, सिद्धान्त, काव्य, पुराण, कथा, ज्योतिष, आयुर्वेद गणित-शास्त्र, स्तोत्र एवं पूजा आदि विषयों से सम्बन्धित हैं। इनमें कितनी ही कृतियाँ तो ऐसी हैं, जिनमें किसी एक कृति पर ही शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है। दर्शन-शास्त्र में अष्टमहत्ती, प्रमेय-कमलमार्तण्ड, सिद्धान्त-ग्रन्थो मे तत्त्वार्थराजवातिक, सर्वार्थनिदि, काव्य-साहित्य में चन्द्रप्रभवचरित, यशस्तिलकचम्पू, बरामंचरित एवं पुराण-साहित्य में महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि कुछ ऐसी कृतियाँ हैं जो सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं और जिनपर स्वतंत्र रूप से शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। प्राकृत-भाषा में निबद्ध जैन आगमों के अतिरिक्त आ० कुन्दकुन्द, देवमेन, आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियाँ उच्चस्तर की रचनायें हैं। इसी तरह स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, वीर, नयनन्दि, धवल, एवं रङ्गू अपभ्रंश के जगमगाते हीरे हैं। इनके द्वारा लिखा हुआ साहित्य किसी भी भाषा के उच्चस्तरीय साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है। इसी तरह योगीन्द्र, रामसिंह, रत्न, मधाम, ब्रह्मजिनदास, कुमुदचन्द्र, बनारसोदाम, भूषरदास, एवं खानतराय आदि कवियों द्वारा लिखे साहित्य पर भी पूर्ण खोज होने की अप्रति आवश्यकता है। यद्यपि जैन विद्वानों का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित अवस्था में है और वह हस्तलिखित रूप में ही है। इसलिये उनकी खोज में पर्याप्त व्यय भी

करना पड़ेगा। लेकिन इससे उन्हें नया साहित्य मिलेगा एवं नयी-नयी अनुभूतियाँ प्राप्त होगी। नयी दिशा के साथ साहित्य-रचना की नयी शैली मिलेगी।

भारतीय जैन साहित्य संसद का जन्म इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है और मुझे आशा है कि साहित्य के इस पुनीत यज्ञ में सब सब विद्वानों का सहयोग मिलेगा। प्राचीन जैन साहित्य की खोज के साथ-साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। जैन विद्वानों एवं आचार्यों ने जो कुछ लिखा है वह काव्य, भाषा एवं शैली की दृष्टि से कितना विकसितोन्मुख है, उसके निर्माण से जन-जीवन को क्या-क्या लाभ मिले है तथा विषय-प्रतिपादन में लेखक कहीं तक सफल रहा है, इन सबका तुलनात्मक अध्ययन होना आवश्यक है।



दर्शन और आचार संगोष्ठी के उद्घाटक

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

का

उद्घाटन-भाषण

[दर्शन और आचार संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री माधवजी द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार]

जीवन-शोधन के लिए दर्शन और आचार का अध्ययन अत्यावश्यक है। वस्तुतः जीवन-शोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया ही दर्शन का वर्ण्य विषय है। जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का रहना और परमतत्त्व की प्राप्ति के हेतु विभिन्न मार्गों का अनुसरण करना मानव का स्वभाव है। अतः आत्मा, परमात्मा, जगत् और इन तीनों के सम्बन्धका विश्लेषण सभी दार्शनिकों ने किया है। दर्शनशास्त्र की यात्रा 'कोऽहं' से आरम्भ होती है। मनुष्य के मन में प्रश्न उत्पन्न होता है, कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्त्तव्य है तथा इस कर्त्तव्य की पूर्ति किस मार्ग के द्वारा होनी चाहिए, आदि प्रश्न उसके मन को कुरेदते रहते हैं। दर्शनशास्त्र इन प्रश्नों का उत्तर देता रहता है। यह यात्रा 'सोऽहं' में पूर्ण हो जाती है अर्थात् मैं वही हूँ जो परमात्मा या शुद्ध तत्त्व है। यदि मेरा स्वल्प साधना और तत्त्वज्ञान के द्वारा प्राप्त हो जाय तो फिर मैं वही हो जाऊँ, जो मुझे होना है।

भारतवर्ष में छः दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, जिन्होंने मूल तत्त्वों के विवेचन और विश्लेषण द्वारा मोक्षप्राप्ति के उपायों का निरूपण किया है। जैनदर्शन की गणना यद्यपि इन छः आस्तिक सम्प्रदायों में नहीं है, पर है यह भी आस्तिक दर्शन। आत्मा के विभिन्न रूपों, पर्यायों और गुणों का विवेचन इस दर्शन में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ गूढ़ आत्मा को ही परमात्मा कहा जाता है। यह परमात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है। जैन दार्शनिकों ने आत्मा और परलोक का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। पुण्य-पाप-बन्ध-मोक्ष को व्यवस्था जैनदर्शन में विस्तार से वर्णित है। मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र के समवाय को अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग कहा है। सम्यक्दर्शन-तत्त्व-सम्बन्धी अभिनिवेश या श्रद्धा है। जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। मूलतः दो ही तत्त्व हैं—जीव और अजीव। अनन्त चतुष्टय रूप आत्मा कषाय और प्रमाद से युक्त होकर कर्मों का आस्रव करता है और मिथ्यात्व, अविरति आदि के कारण बन्ध में अन्तर् होता जाता है। संसार का प्रवृत्त द्रव्य-व्यवस्था द्वारा स्वभाव-गुणानुसार स्वयमेव घटित होता रहता है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने लोक व्यवस्था के लिए किमो परोक्ष शक्ति की कल्पना नहीं की। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक अनादिनिधन एवं प्रकृतिम है। इसकी रचना का आधार षड्द्रव्य है, मनुष्य का उत्थान और पतन स्वयं उनके हाथ में है। अन्य कोई भी परोक्ष शक्ति इसे अपने हाथ की कठपुतली नहीं बना सकती है। जैसा जीव का उदय और बन्ध रहता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्ता और भोक्ता है। जीव ज्ञान और दर्शन युक्त है और इतर जगत् जड़ है।

जैन दर्शन में जीव की कर्माविष्ट विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण पाया जाता है। कर्म, पदार्थ पुद्गल की एक पर्याय है, जिसे जैन-दार्शनिकों ने शास्त्रीय भाषा में कार्माणुवर्गणा कहा है। ये कार्माणुवर्गणा मूर्त्तिक होती हुई भी इतनी सूक्ष्म है कि इन्हें ग्रहण्य कहा गया है। जिस प्रकार मोहे का पिण्ड अग्नि में गर्म किये जाने पर चारों ओर से जल का आकर्षण करता है, उसी प्रकार चेतन आत्मा अपनी वैभाविक शक्ति के कारण विवृत हो कर्म-परमाणुओं को सब ओर में आकृष्ट करता है। ये कर्मपरमाणु खिंचकर मनुष्य की कषाय-प्रवृत्ति की तारतम्यता के कारण आत्मा में चिपट जाते हैं। तथ्य यह है कि मन-वचन-काय की यागमयी प्रवृत्ति कर्मपरमाणुओं को आकृष्ट करती है और कषाय-प्रवृत्ति उन परमाणुओं से आत्मा को श्लिष्ट कर देती है। उदाहरणार्थ—यों समझा जा सकता है कि आग्नी से धूल उड़ती है और यह धूल दीवार पर चिक्कण या रूक्ष परमाणुओं के कारण चिपट जाती है। चिपटने का कार्य विजातियों में ही होता है। रूक्ष कागज चिकनी गोंद के संयोग से सटता है। अतः जैन दार्शनिकों ने बन्ध का कारण 'स्निग्धरूक्षत्वात्' कहा है। आत्मा में कषायभाव गोंद के समान श्लेष्म उत्पन्न करता है और योग—मन-वचन-काय-कर्मों को आकृष्ट करते हैं। अतएव कर्म और आत्मा का यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आत्मा स्वभावतः ज्ञान-दर्शनयुक्त है तो यह विकारमयी प्रवृत्ति कहाँ से और कैसे उत्पन्न हो गई? यतः स्वभावतः निर्मल वस्तु को कोई भी विवृत नहीं बना सकता है। यदि विजातियों के संयोग से इस प्रकार की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहे तो फिर निर्वाण

का प्रश्न ही नहीं आ सकता है। निर्वाण में आत्मा का शुद्ध स्वरूप अवस्थित रहता है और इस शुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाले कारण सदा प्रस्तुत रहते हैं। अतः इस शुद्धि के बाद भी विकृति आती जाय तो फिर निर्वाण का महत्त्व ही क्या रहा ? जैन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का समाधान आत्मा की दो शक्तियाँ मानकर किया है। उनका अभिमत है कि आत्मा में मूलतः दो शक्तियाँ पाई जाती हैं—(१) वैभाविक शक्ति और (२) स्वाभाविक शक्ति। संसारावस्था में जीव की वैभाविक शक्ति कार्यशील रहती है। अतः आत्मा विभावस्वरूप परिणामन करता रहता है। तपश्चरण और साधना द्वारा कर्मों की निजरा हो जाने पर जब पूर्ण शुद्ध दशा प्राप्त हो जाती है तो जीव की स्वाभाविक शक्ति का विकास हो जाता है। अतः निर्वाण प्राप्त होने जाने पर विकार उत्पन्न करने वाले कारणों के न रहने से आत्मा अविकारी बना रहता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने संसार और मोक्ष की व्यवस्था निरूपित की है।

आचार के क्षेत्र में दान, तप, शील और भावना-शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया है। दान का वास्तविक अर्थ त्याग है। जब व्यक्ति ममता और अहंकार का पूर्ण त्याग कर देता है तो वह सच्चा दानी बन जाता है। जो जितने अंश में त्यागवृत्ति को अपनाता है वह उतने ही अंश में दानी कहा जाता है। जीव ममत्ववश ही संसार के पर-पदार्थों को अपना समझता है और उनमें स्वबुद्धि उत्पन्न कर आसक्त होता है। अतएव जिसने ममता और अहंकार को छोड़ दिया है और निज गुणों को ही सर्वस्व समझा है ऐसा व्यक्ति दान के वास्तविक महत्त्व को समझ जाता है। जैनदर्शन में सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। “परस्परप्रेमो जीवानाम्” का सिद्धान्त सेवा का ऊर्कृष्ट रूप उपस्थित करता है। गृहस्था, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह विश्वप्रेम के ऐसे विकसित रूप हैं जिनसे त्याग, संयम और सदाचार की पूर्ण शिक्षा प्राप्त होती है। जैन दर्शन का साधक श्रमण कहलाता है और यह निरालस भाव से कठोर श्रम करता है। साधना, ध्यान और इच्छा-निरोध के रूप में सम्पन्न होती है। संयम की पराकाष्ठा के कारण इन्द्रिय और मन के निग्रह के साथ समस्त प्राणियों को सुख-शान्ति पहुँचाने की भावना सदैव उच्च कोटि की रहती है। प्रमाद या अनावधानी का त्याग समिति के रूप में और मन, वचन और काय का निग्रह गुप्ति के रूप में साधक करता है। शरीर-धारण के हेतु साधक समाज से जो भोजन भी ग्रहण करता है उसके बदले में समाजोत्थान के हेतु अपना उपदेश देता है। जिस प्रकार गाय घास खाकर मधुर दुग्ध प्रदान करती है उसी प्रकार जैन श्रमण समाज से कृष्ण-सूखा अल्पाहार ग्रहण कर आत्मोत्थान कारक उपदेश देता है। जैनाचार जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है। गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये विभिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रतिपादन करता है। संक्षेप में गृहस्थ आचार-शुद्धि

१. जैन दर्शन में मूलतः एक वैभाविक शक्ति ही मानी गई है। उसके परिणामन दो स्वीकार किये गये हैं—१ विभाव और २ स्वभाव। विजातीय द्रव्य (कर्म) का जब तक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा में विभाव (कषायादि) परिणाम होता रहता है। पर विजातीय द्रव्य का सम्बन्ध आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक (पूर्णतः) समाप्त हो जाने पर उसमें स्वभाव परिणाम ही होता है। इसी स्वभाव परिणाम में आत्मा अनन्त काल तक निमग्न रहता है और फिर उसे पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता पड़ता; क्योंकि पुनर्जन्म का कारण विजातीय द्रव्य नहीं रहता। देखिए, राजमल, पंचाध्यायी।

—सम्पादक।

के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करता है, भोजन में अहिंसा के सिद्धान्तों को पूर्णतया पालन करते हुए अभक्ष्य एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थों के त्याग पर जोर देता है। मनशुद्धि के हेतु पंच-पाप, सप्त-व्यसन एवं विकारी प्रवृत्ति के त्याग पर जोर दिया गया है।

मुनि-आचार में महाव्रत, गुप्ति और समिति रूप आचार का निरूपण किया गया है। आध्यात्मिक उत्थान के लिये गुणस्थान-अवरोहण की प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है। साधक अपने ध्यान की तीव्रता से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों का क्रमशः निराकरण करता हुआ अपनी कर्म-कालिमा को आत्मा से निकाल बाहर करता है और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। गुणस्थान-अवरोहण की प्रणाली बड़ी ही सुचिन्तित वैज्ञानिक प्रणाली है। एक साधक की साधना के विकास का यह इतिहास ही है।

जैनदर्शन में स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का जो सिद्धान्त प्रतिपादित है वह द्रव्य की व्यवस्था पर तो प्रकाश डालता ही है, पर जन-जीवन के लिये भी उसकी उपयोगिता कम नहीं है। ससार में विचार-भिन्नता का रहना आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के विचार, उसकी योग्यता, शक्ति, स्वभाव, वातावरण आदि के अनुसार बनते हैं। अतः कर्म भी व्यक्ति के विचार पूर्णतः सत्य नहीं हो सकते। आंशिक सत्य विचारों में निहित रहता है। स्याद्वाद इसी मत-भिन्नता में समन्वय उत्पन्न कर सत्य का विस्फेलेण करता है। हठ और पक्षपात स्याद्वाद सिद्धान्त से ही दूर हो सकते हैं, अतः समाज और व्यक्ति के विकास के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त की उपयोगिता सर्वविदित है। विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ यदि स्याद्वाद सिद्धान्त को अपना लें तो उनमें मतभेद ही न रहे और वे मुगठित होकर देश के कार्यों में लग जाय।

मैं जैनदर्शन का एक सामान्य छान हूँ। इस दर्शन की सूक्ष्मताओं और विशेषताओं की जानकारी मुझे नहीं है, पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को जितना महत्त्व इस दर्शन में दिया गया है, सम्भवतः उतना महत्त्व अन्य दर्शनों में नहीं मिलेगा।

अभी-अभी हमने मुना कि मरण भी एक उत्सव या त्योहार है, जिसे जैनदर्शन में सत्लेखना कहा गया है। आस्तिक—आत्मविश्वासी मरण और रोगों से घबड़ाता नहीं। वह कर्मठ बन मृत्यु से मल्लयुद्ध करता है। आत्मा के अमरत्व का विश्वास उसे निर्भय बनाता है। पुनर्जन्म और मरण का त्रिवेचन जैन दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है। लोकभय, परलोकभय, वेदनाभय आदि सप्त-भयों से मुक्त कर निर्भय होने की ओर मैं आपको ले चलना चाहता हूँ।

दर्शन और आचार संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० एन० के० देवराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हमारा देश एक पुराना देश है। इसका लम्बा इतिहास है। इस देशमें दार्शनिक, धर्मचिन्तक एवं विचारक प्राचीन काल से ही उत्पन्न होते चले आये हैं। सभीने अपनी ज्ञानराशि-द्वारा देश की संस्कृति का निर्माण में योग दिया है। जीवन शोधन के सम्बन्ध में इस देशके विचारकों ने जितना कहा है, उतना शायद अन्य देश के विचारकों ने नहीं। साथ ही कहना होगा कि यहाँ के मनीषियों ने राजनीति और समाज निर्माण के सम्बन्ध में विशेष चिन्तन नहीं किया। वैयक्तिक जीवन की इतनी प्रमुखता रही, जिससे परलोक सम्बन्धी बातें ही अधिक कही जाती रही। क्रान्तिकारी, समाज-सुधारक इस देश में भी जन्मे हैं। बुद्ध और महावीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी चिन्तकों में परिगणित है। हमें यहाँ जैन-दर्शन के सिद्धान्तों और तत्सम्बन्धी जीवन मूल्यों की खोज करनी है। इस दर्शन के मनीषियों ने भी आध्यात्मिक जीवन मूल्यों का गम्भीर विश्लेषण किया है।

जैन साहित्य विशाल है। विशेषतः उसका दार्शनिक-वाङ्मय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जैन दर्शन का हम तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—

१ मोक्षयुग, २. अनेकान्तवाद—समन्वयवादी युग एवं ३ तर्क-युग।

मोक्ष की विचारधारा अतिवादी कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। वैदिक संस्कृति लौकिक अम्बुदय का सन्देश देती है। हम अपनी ऐहिक उपलब्धियों के लिये प्रयासशील रहते हैं। वैदिक परम्परा ऐश्वर्य, यश और सन्तान की प्राप्ति में सहयोग देता है। वैदिक ऋषियों ने देवों की स्तुति और शासन द्वारा वित्तवश्या, लोकवश्या और पुत्रवश्या की पूर्ति चाही है। जीवन का लक्ष्य एषणात्रय तक ही सीमित है। उपनिषद्काल में चिन्तन-क्षेत्र में क्रान्ति आरम्भ हुई और जीवन को एक नये ही दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। पुनर्जन्म और परलोक की व्यवस्था चिन्तन-क्षेत्र के भीतर समाविष्ट हुई। उपनिषद् के वेत्ता जनक आदि ने अध्यात्म-तत्त्वों की मोमासा की। इस ज्ञान-क्षेत्र में श्रमणों की परम्परा विशेष योगदान देती हुई परिलक्षित होती है। मोक्षका अर्थ है—भीतर के पूर्णत्व को प्रकट करना। उपनिषद् में अद्वैतवादी परम्परा भी पूर्णत्वको प्रतिष्ठा करती है, जैन-दर्शन में भी समस्त कमोंका अभाव होने पर आत्माकी शक्तियों के पूर्ण विकास को मोक्ष कहा है। यह परम्परा एक गहरे अर्थ में मानवतावादी है।

विभिन्न दार्शनिकों ने मोक्ष स्वरूप की मान्यता विभिन्न प्रकार से ही स्वीकार की है। मैं यहाँ इस मान्यता-भेद की चर्चा न कर मूल-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही चर्चा करूँगा।

जैन-दर्शन मानवतावादी है। यह मनुष्य को ही महत्व देता है, ईश्वर को नहीं। सर्वाङ्गीण विकास के लिये व्यक्ति उत्तरदायी है। वह अपने पुरुषार्थ और प्रयत्नों से अपने भण्डे गुरुओं का विकास कर सकता है। उसे अपने विकास और ह्यम के लिये अन्य किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्रमुख, समन्वयवादी सिद्धान्त है। एक उदाहरण—कुछ दार्शनिक ज्ञानमात्र को स्वतः प्रमाण मानते हैं, कुछ परतः प्रमाण। अपने ग्रन्थ 'प्रमाणमीमांसा' में हेमचन्द्र कहते हैं—'चूँकि कुछ ज्ञान-प्रकार स्वतः प्रमाण होते हैं, कुछ परतः प्रमाण।

तृतीय तर्क-युग में ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत तर्क ने प्रवेश पाया। भारत के सभी दार्शनिकों ने ज्ञान और प्रमाण की मीमांसा प्रस्तुत की है। जैन-दर्शन की ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा प्रायः इतर भारतीय दर्शनों से मिलती-जुलती है। जैन तार्किकों ने कौटल्य की चर्चा की है। यह चर्चा अन्यत्र भी पाई जाती है। प्रमाण के क्षेत्र में अनुमान और उसके अवयवों पर जैन-दार्शनिकों ने सामान्यतः अन्य मनीषियों के समान ही विचार किया है।

जैन-दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय नहीं मानता है और न वह लक्षा ईश्वर की कल्पना ही करता है। गुरुद्वय और अन्धविश्वासों में एक अन्धविश्वास ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व भी है। मनुष्य अपने विकास का सारा दायित्व ईश्वर पर छोड़ देता है और स्वयं अकर्मण्य बन जाता है। ईश्वर की कल्पना का कारण भय और अज्ञान है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि पंगु हो जाती है वहाँ वह ईश्वर को ले आता है। जिस बात को हम नहीं जानते, हम कहने लगते हैं कि "भगवाण् जानें।" अतः मनुष्य की अज्ञानमयी प्रवृत्ति भी ईश्वर की कल्पना का कारण है। हम भय से रक्षा प्राप्त करने के लिये एक सबल, एक सहारा लोजते हैं। मनुष्य ने भय-रक्षा के लिये एक ऐसा सबल सहायक कल्पित किया, जो दिव्य-शक्ति परिपूर्ण है। अतः भय की प्रवृत्ति ने ईश्वर को जन्म दिया है। ईश्वर-उत्पत्ति का एक अन्य कारण मनुष्य की कल्पनाशीलता भी है। मनुष्य ने अपनी कल्पना से ऐसी अनेक वस्तुएँ निमित्त की हैं, जो अप्रत्यक्ष हैं। प्राचीन भारत में दार्शनिकों ने अनेक विराट् वस्तुओं को कल्पना-द्वारा गढ़ा, फलतः ईश्वर, अमरत्व जैसे शब्द गढ़े गए। तथ्य यह है कि प्राचीन भारत के मनीषी बड़े क्रियाशील थे, वे अपनी कर्मठता से विराट् वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाएँ और व्यवस्थाएँ प्रस्तुत करते थे। यही कारण है कि अवतारवाद और जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में मनोरंजक तथ्य उपस्थित किये गये हैं। जैन-दार्शनिकों ने अनेक रूढ़ियों तो स्वीकार की हैं। पर सृष्टि के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। मुक्ति के सम्बन्ध में संसार त्याग और संन्यास की चर्चा मेरी समझ से बहुत उचित नहीं है। मैं जीवन्मुक्ति की धारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। व्यक्ति कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे, यह जीने की कला का सुन्दर रूप हो सकता है। स्थितप्रज्ञता कर्मठता के साथ ही शोभित होती है। अकर्मण्यतापूर्ण संन्यासी जीवन मुझे खूबकर नहीं है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक सफल लोक-जीवन के सम्बन्ध में कम सोचते हैं। विधि-निषेध परक सिद्धान्तों के आधार पर जीवन की मान्यताएँ स्थापित करते हैं, पर प्रज्ञाशील आधुनिक विचारक पुरानी मान्यताओं को ज्यों-के-त्यों रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

आज समस्त चिन्तनशील मनीषियों को इस बात की आवश्यकता है कि जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में पुनर्विचार किया जाय और लौकिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों के सम्बन्ध में नये समन्वयात्मक प्रयत्न किये जाय। कोई भी प्रतिभाशाली जाति केवल पुरानी विचारधाराओं का ही अनुसरण नहीं करती, वह नये मूल्यों का अन्वेषण और नया चिन्तन भी प्रसूत करती है।

जैन-दार्शनिकों का भी यह दायित्व है कि वे पुरानी मान्यताओं के साथ जीवन की नई समस्याओं और जीवन के नये मूल्यों को आज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्थापित करें। मोक्ष और उसकी साधना इतना ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। हमारा लौकिक-जीवन कर्मठ, क्रियाशील और जागरूक बन सके, इसके लिये भी बुद्धि-सम्मत चिन्तन की आवश्यकता है। मात्र पारलौकिक या आध्यात्मिक चिन्तन से हमारा हित नहीं हो सकता है। कैनवल्स या निर्वाण सभी प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव व्यावहारिक जीवन के मानों की स्थापना भी दार्शनिकों को करनी चाहिए। पुरानी दर्शन की मान्यताओं को और आगे दूर तक ले जाने की आवश्यकता है। जीना एक कला है, यह कला विभिन्न जीवन-मूल्यों का समूह है। अतएव दार्शनिकों को दर्शन के आलोक में नये रूप से जीवन-समस्याओं का पुनर्मूल्यांकन करने की चेष्टा करनी चाहिये।



दर्शन और आचार संगोष्ठी

का

संयोजकीय भाषण

श्री दरबारीलाल कोठिया

यह हर्ष की बात है कि आरा नगर में एक वर्ष बाद पुनः ज्ञान-गोष्ठियों का आयोजन हो रहा है। गत वर्ष इसी स्थान पर जैन मिद्धान्त भवन की हीरक-जयन्ती का चिरस्मरणीय समारोह सम्पन्न हुआ था। उस समय भी विभिन्न गोष्ठियों का आयोजन किया गया था और समागत विद्वानों ने अपने शोध-पूर्ण निबन्धों के पाठ द्वारा ज्ञान की नई विधाओं का प्रदर्शन किया था। इस वर्ष भी आरा-नगर के उस्ताहों एवं ज्ञानोपासक बन्धुओं द्वारा इस ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान किया जा रहा है। भारतीय जैन साहित्य संमद के, जिसकी स्थापना अभी कुछ ही समय पूर्व हुई, प्रथम अधिवेशन का निर्माण देकर और उस प्रसंग से अनेक विद्वानों को उक्त ज्ञान-यज्ञ में भाग लेने के लिए आमंत्रित करके उन्होंने निश्चय ही अनुकरणीय एवं सराहनीय कार्य किया है।

इससे पहले साहित्य और कला संगोष्ठी हो चुकी है, जिसमें अनेक विद्वानों ने भाग लेकर उसे सफल बनाया है। अब दर्शन और आचार संगोष्ठी होने जा रही है। इस संगोष्ठी में भी अनेक विद्वान् भाग ले रहे हैं और वे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धों का पाठ करेंगे। आज की गोष्ठी के अध्यक्ष डा० देवराज और उद्घाटयिता श्री माधव हैं, दोनों ही दर्शन-शास्त्र के अधिकारी और गम्भीर चिन्तक विद्वान् हैं। यह संगोष्ठी का सारभाष्य है कि उसे इन विद्वानों के विचार सुनने का मुख्यमर प्राप्त होगा।

जहाँ तक दर्शन और आचार संगोष्ठी का सीमा-क्षेत्र है वह व्यापक और विशाल होते हुए भी उसे जैन तक सीमित इसलिए रखा गया है, ताकि सुविधा के साथ जैन विचारों और आचारों की हम सीमांसा कर सकें और यह ज्ञान सकें कि जैन दर्शन और जैन आचार की भारतीय दर्शन तथा आचार को क्या देन है एवं उनका उनके लिए क्या योग-दान है ?

विचार के क्षेत्र में जैन दर्शन ने 'अनेकान्तवाद' और 'स्याद्वाद' इन दो मौलिक मिद्धान्तों की स्थापना की है। विश्व का अणु-अणु अनुकूल-प्रतिकूल, विरोधी-अविरोधी, दृष्ट-अनिष्ट आदि अवस्थाओं से समवेत है। जो पानी प्यास की प्यास को बुझाता है वही पानी कष्ट में अटक जाने या गुटका लग जाने पर प्राण-घातक भी है। वह खेतों की सिंचाई करके उन्हें हरा-भरा बना देता है और वही बाढ़ के रूप में खेतों का हो नहीं, पशुओं और मनुष्यों तक को भी बर्बाद कर देता है। अग्नि की दाहकता और पावकता में कोई अरिचिन्त नहीं है। इस तरह सारा विश्व अनेकान्तमय है। कौन दृष्टि से वह अनुकूल है और कौन दृष्टि से वह प्रतिकूल, आदि विचार 'स्याद्वाद' द्वारा होता है। विभिन्न दृष्टिकोणों का एकत्र समवाय का नाम 'स्याद्वाद' है। हम पुरो वस्तु को एक दृष्टिकोण से पूर्ण नहीं कह सकते। उसे पूर्ण बतलाने के लिए हमें विभिन्न दृष्टिकोणों का सहारा लेना ही पड़ेगा। शब्द और संकेत हमेशा अपुरो वस्तु को ही बतलाते हैं। अतः वक्ता जब किसी वस्तु के बारे में

निर्देश करता है तो वह अपने अभिप्राय से उसका निर्देशन करता है। अन्य अभिप्राय से वह अन्य प्रकार की भी संभव है। इस प्रकार 'स्याद्वाद्' सबके अभिप्रायों का आदर करता है और सबसे भी वह अपने एकान्त आग्रहों को छोड़कर सबके अभिप्रायों का आदर करने की प्रेरणा करता है। 'स्याद्वाद्' से मानस अहिंसा (क्रोध, घृणा, आदि मानस-विकारों का अभाव) का असाधारण पालन होता है। अथवा, यों कहना चाहिए कि 'स्याद्वाद्' हमें समन्वय, सह-अस्तित्व, विचार-सहिष्णुता और अहिंसात्मक सत्य के अनुसरण के लिए प्रेरणा देता है। जैन दर्शन के ये दोनों धर्म्य सिद्धान्त—अनेकान्त और स्याद्वाद्—चिन्तकों के तत्कालचिन्तन में निश्चय ही योगदान करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए जैन दर्शन में 'सप्तभंगी' और 'नय' का भी विचार प्रस्तुत किया गया है, जो जैन दर्शन की उपलब्धियाँ मानी जा सकती हैं। जैन धार्मिकों ने इन सबका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है और उनकी कितनी उपयोगिता है, यह भी उन्होंने स्पष्ट किया है।

आचार के क्षेत्र में जैन दर्शन ने अहिंसा के गूढ़ एवं सूक्ष्म रहस्य का उद्घाटन किया है। कायिक अहिंसा से ऊँचे उठकर वाचिक और मानसिक अहिंसा के पालन पर बहुत बल दिया गया है। कितनी ही यातना सहना पड़े, पर क्रोध न आये, दूषित अभिप्राय मन में न आने पाये, प्रतिक्रिया का भाव न जगे, तभी वह पूर्ण अहिंसा कही गई है। केवल जीव के मर जाने को हिंसा और उसकी रक्षा का नाम अहिंसा नहीं है। जैन माधु यत्नाचार से जा रहा है और उसके परो के नीचे कोई जीव आकर मर जाता है तो वह उसका हिंसक नहीं माना गया है, क्योंकि उसके मन में उस जीव को मारने का न विचार है और न प्रयत्न। अतः उसे अहिंसक बताया गया है। साथ ही जैन विचारकों ने अहिंसा पर विचार करते समय यह भी कहा है कि कोई आततायी देश पर, धर्म पर आक्रमण करता है तो छुपाप उसे महा न जाय। उसका सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिवाद किया जाय, चाहे उसमें कितनी ही हिंसा हो, वह आत्म-रक्षा की दृष्टि से हिंसक नहीं है, अहिंसक ही है, क्योंकि वह आक्रान्ता नहीं है, उसका मानस दूषित नहीं है। इस तरह जैन माधु और जैन गृहस्थ अपनी सीमाओं में अहिंसा का पूर्णतया पालन करते हैं। हमारा ख्याल है कि जैन सन्त-विचारकों का आचार के क्षेत्र में यह शोभनतम विचार है और गहराई से उन्होंने उसके रहस्य का अन्वेषण किया तथा जीवन में उसे उतारा है। सत्य, अचौर्य, शील और अपरिग्रह ये सब उसी अहिंसक आचार की उसी प्रकार संरक्षिका सद्वृत्तियाँ हैं जिस प्रकार धान्य से पूर्ण खेत की रक्षिका बाढ़ होती है। जैन चिन्तकों ने इसी दिशा में अपने समग्र साहित्य का सृजन किया है। उनका मूल उद्देश्य किसी भी माहित्य को रक्षते समय यथार्थ ज्ञान होने और अहिंसा का पालन करने की प्रेरणा देने का रहा है।

हमें आशा है दर्शन और आचार गोष्ठी में समवेत विद्वान् अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धों द्वारा जैन दर्शन और आचार की उपलब्धियाँ प्रस्तुत करके हमें लाभान्वित करेंगे।

अन्त में संयोजकीय भाषण समाप्त करते हुए हम अपने इन सभी मान्य विद्वानों का हार्दिक स्वागत करते हैं।

आरा,

६ जनवरी १९६५ ई०।



भारतीय जैन साहित्य संसद के

प्रथम अधिवेशन पर

साहित्य और कला

तथा

दर्शन और आचार

संगोष्ठियों में

विद्वानों द्वारा

पठित

निबन्ध

•

प्रादिकाल और सन्तकाव्य की पृष्ठभूमि में **हिन्दी का जैन साहित्य** प्रो० गदाधर सिंह, एम० ए०

[हिन्दी के प्रादिकाल की कहानी जैन कवियों की कहानी है। वीररू के अति-रिक्त उन्होंने परम्परा से जकड़े हुए आसक्ति पूर्ण मानव-मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण में साँस लेने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार भोगों का बहिष्कार नहीं, उनका सम्यक् नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। संक्षेप में कह सकते हैं, कि भृङ्गार की पंक्ति भूमि से ऊपर उठकर शान्त की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही जैन कवियों का लक्ष्य रहा है।]

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन—भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में समाहित होनेवाली इन तीन स्रोतस्त्रिनियों का सम्यक् अवगाहन किये बिना हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक फैले हुए इस विशाल जन-मानस की अन्तश्चेतनाओं का साक्षात्कार कथमपि सम्भव नहीं है। यह हमारा दुर्भाग्य रहा है कि जहाँ बौद्ध और ब्राह्मण-साहित्य के मर्म उद्घाटन की तरफ हम सतर्क रहे हैं, वहाँ जैन साहित्य के सामान्य पचरिय के प्रति भी हमारी वृत्ति उदासीनता की रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस साहित्य के प्रति सदा उपेक्षा का भाव रखा; क्योंकि उनकी दृष्टि में :—

- (क) जैन-साहित्य में ज्ञान-योग की साधना है, भाव-योग की नहीं।
- (ख) यह साम्प्रदायिक साहित्य है, सार्वभौम साहित्य नहीं।
- (ग) इसमें विषय-विस्तार नहीं, दृष्टि का एकांगीपन है।
- (घ) इसका महत्व भाषा की दृष्टि से है, साहित्य की दृष्टि से नहीं।^१

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त मत नवीन तथ्यों के प्रकाश में भ्रान्तिपूर्ण एवं महत्वहीन सिद्ध हो चुका है।

हिन्दी के प्रादिकाल की कहानी जैन कवियों की कहानी है। यों तो दसवीं शताब्दी से हिन्दी का वर्तमान रूप स्पष्ट होने लगता है, किन्तु वस्तुतः वह उसके ४०० वर्ष पीछे है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देशभाषा को अलग-अलग बतलाया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर स्ययम्भू (वि० ६वीं), पुण्डस्त (वि० १०२९) आदि के ग्रन्थों की हिन्दी के ग्रन्थों में नहीं गिना

१. “उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणिओं, अनुभूतिओं और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उनको रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।”—रामचन्द्र शुक्ल।

जाता था, किन्तु राहुल जी ने इन्हें हिन्दी के कवियों में स्थान दिया और हिन्दी को काल-सोमा को बहुत पीछे खींचकर ले गये। चतुर्भुज, स्वयम्भू, पुण्ड्रक के अतिरिक्त एक ईशान भी है, जिनकी रचनाएँ धर्मा प्रकाश में नहीं आयी हैं। स्वयम्भू ने अपने 'पउमचरित' और 'रिटुनेमिचरित' में अपने पूर्ववर्ती कवियों के साथ ईशान का भी स्मरण किया है। पुण्ड्रक ने अपने पुराण में नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि उन्होंने न तो चतुर्भुज, स्वयम्भू और श्रीहर्ष को ही देखा है और न ईशान की रचनाओं का ही आस्वादन किया है। बाणभट्ट ने उन्हें अपना मित्र तथा भाषा का कवि बतलाया है (भाषाकविरीशानः परं मित्रम्) इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि ईशान भाषा के महाम् कवि थे। यद्यपि इसके पीछे कोई बहुत बड़ा प्रामाणिक आधार नहीं है किन्तु मेरा अनुमान है कि ईशान जैन धर्मावलम्बी थे। उस काल में जिन लोगों ने देशभाषा में रचनाएँ प्रस्तुत कीं, वे परम्परा के प्रति विद्रोह करने वाले जैन, बौद्ध या नाथपंथी थे। दसवीं शताब्दी के पूर्व किसी भी ब्राह्मण-धर्मी ने देशभाषा में रचना करने का साहस प्रदर्शित किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। यों तो स्वयम्भू या पुण्ड्रक आदि जैन कवियों ने श्रीहर्ष का भी नाम लिया है किन्तु ईशान के प्रति उनकी भक्ति-भावना अन्यधिक मुद्द है। सभी जैन-कवियों ने अपने पूर्ववर्तों स्वधर्मी कवियों का बड़ी ही श्रद्धा से स्मरण किया है। विक्रम सं० ८४० में रचित संस्कृत 'हरिवंशपुराण' के रचयिता श्री जिनमेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती समस्तभद्र, मिद्धसेन, देवनन्दी, रविषेण आदि जैन कवियों का नाम स्मरण करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। स्वयं गंगस्वामीजी ने 'सादर हरिचरित बलाननेवाले' व्यास और वाल्मीकि के प्रति श्रद्धा के फूल निवेदित किये हैं। यह आश्चर्य जैसा लगता है कि जिस प्रदेश में महावीर की शिक्षा का उद्भव हुआ हो, उस प्रदेश में जैन धर्म के कवि न रहे हो। निःसन्देह लोक-प्रचलित भाषा में रचना करनेवाले जैन कवि महावीर की भूमि में अवश्य होंगे, किन्तु आज उनकी देशभाषा की रचनाएँ प्राप्य नहीं हैं। ईशान ऐसे ही कवि हैं। बौद्ध-सिद्धों की तरह जब इनकी भी रचनाओं का उद्धार होगा तो हिन्दी के स्वरूप पर नया प्रकाश पड़ेगा और तब हिन्दी की काल-रेखा दो-सौ वर्ष और पीछे चली जायगी। ईशान का समय ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम चरण या सातवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। जन्म स्थान बिहार का गया या शाहाबाद जिला है।

यद्यपि देशभाषा का स्वरूप दसवीं शताब्दी के बाद स्पष्ट हुआ किन्तु उसका जन्म बहुत पहले ही हो चुका था। आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) ने अपने 'सावयधम्मदीहा' में जिस भाषा का प्रयोग किया, वह देशभाषा के बहुत समीप है। उसमें प्रयुक्त शब्दों रूप विभक्तियाँ सभी देशभाषा की हैं। उनका एक दोहा इस प्रकार है—

भोगहं करहि पमाणु जिय, इंदिय म करि सदन ।

हुंति ए भल्ला पोसिया, दुद्धे काला सण ॥

[हे जीव ! भोगों का भी प्रमाण रख । इन्द्रियों को बहुत अभिमानो मत बना । काले साँप का दूध से पोसना अच्छा नहीं होता]

इनका "द्वयसहायपयास" (द्वय-स्वभाव-प्रकाश) पहले दोहाबन्ध में था, जो बाद में मोक्ष धवल द्वारा प्राकृत में कर दिया गया। इसकी भाषा पुरानी हिन्दी थी। यदि इस काल में जन-भाषा प्राकृत रचना का आधार बनने में समर्थ हो सकती थी, तो निश्चित रूप से वह इतनी

उन्नति कर चुकी होगी कि उसमें ग्रन्थ-रचना हो सके। श्रीचन्द का 'कथाकोष' देशभाषा में लिखा गया है। 'श्रुतपंचमीकथा' का निर्माण जिनेन्द्र-भक्ति को सुझा करने के लिये ही हुआ था। श्री अभयदेवसूरि का "जयतिहुयणस्तोत्र" लोकभाषा में लिखा गया है। यह स्तोत्र ३० गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसका रचनाकाल स० १११९ है।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईशान, स्वयम्भू, पुष्पदन्त या चाहे जो भी हों, हिन्दी के सबसे प्राचीन रूप को जैनों की ही देन कहना अत्यधिक उपयुक्त होगा।

चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें दो श्रेणी की रचनाएँ हैं :—एक प्रामाणिक और दूसरी अप्रामाणिक। प्रामाणिक रचनाएँ वे ही हैं जो या तो बौद्ध सिद्धों की वाणियाँ हैं या जैन प्रभावपत्र हैं। डा० हजारिप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "मूल मध्यदेश में जहाँ आगे चलकर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ई० स० की चौदहवीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता।"^१

साहित्यिक प्रवृत्ति को क्षेत्र-विशेष की सीमा में आबद्ध कर देना बहुत अच्छा नहीं होता। कारण-विशेष में किसी स्थान की रचना सुरक्षित नहीं हो पाये, यह एक बात है और कोई प्रामाणिक साहित्य रचा ही नहीं जाय, यह बिल्कुल दूसरी बात है। इन स्थानों में मूर और तुलसी की काव्य प्रवृत्तियों को प्रेरणा देनेवाली कृतियों की रचनाएँ अवश्य हुई होंगी, किन्तु क्रूर कास के बपेड़ों में वे सुरक्षित नहीं रह पायी। मिथिला और ब्रज के अथवा राजस्थान और गुजरात के कवि दो भिन्न आकाश के नीचे खड़े होंगे, यह कहना विश्वमनीय नहीं लगता। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न हरिब्रह्म, चौदहवीं के उमापति, अमृतकर, गणपति ठाकुर, ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मैथिल कवियों में मुरदास का पूर्वरूप खोजा जा सकता है। इसी प्रकार की बात तुलसी तथा अन्य प्रदेशों के कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अनादिकाल से सम्पूर्ण भारत समान मंस्कृति की भाव-लहरी से व्याप्त रहा है। महावीर की अहिंसा की लहर भारत के पूर्वी प्रदेश में छठी, किन्तु उसका सर्वाधिक प्रभाव गुजरात और वीर-प्रभु भूमि राजस्थान में रहा। "पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं।"^२ डा० द्विवेदी का यह मन्तव्य जातीय तथा क्षेत्रीय धारणाओं पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह कहना भी तर्क-सम्मत नहीं है कि पूर्वी प्रदेशों में रचा जातवाला साहित्य रुढ़ि-विरोधी है और पश्चिमी प्रदेशों में रचित साहित्य रुढ़िबद्ध है। पश्चिमी प्रदेशों में रचित जैनों के साहित्यको किसी भी रूप में रुढ़िबद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। रुढ़ियों का विरोध करने में मुनि रामसिंह और जोइन्दु उतने ही उत्साही हैं, जितने बौद्ध सिद्ध। पुरुषों के अत्याचारों से कराहती नारी की चेतना स्वयम्भू के काव्य में जिस रूप से प्रकट हुई, उससे चमत्कृत होकर राहुलजी को कहना पड़ा कि तुवसी ने स्वयम्भू की सीता की एकाक्ष किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दी? ब्राह्मणों द्वारा स्थापित रुढ़ियों के विरोध में और उनके पौराणिक पात्रों के मानवीकरण में जैन कवियों ने जिस सादृश और नवीन दृष्टि का परिचय दिया, वह उनके लिये कम गौरव की बात नहीं है। हिन्दी के आदिकाल की एक नवीन कृति प्रकाश में आयी है—आणंदा, जिसके स्वतंत्र चिन्तन का गम्भीर स्वर आगे चलकर सिर्फ कबीर में ही सुनाई पड़ा, अन्यत्र नहीं। पश्चिमी अरब्रंश की जैनों की भाषा

कहा जाता है, किन्तु जैन रचयिताओं ने लोक-परम्परा में बहती हुई आनेवाली लोकभाषा में भी साहित्य का सृजन किया। 'आर्णवा' इसी प्रकार की कृति है। नवीन अनुसन्धानों के आधार पर ऐसे अनेक रास-ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है जो पूर्णतया प्रामाणिक हैं तथा जिनका रचनाकाल "वीमलदेव रासों" से भी पहले है। रास-परम्परा में जो सबसे पहला प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त है, वह है श्रीशालिभद्र मूर्ति रचित "भरतेश्वरबाहुबलिरास"। इसका रचनाकाल ११४८ ई० है। श्री अग्रचन्द्र नाहटा ने इसमें भी प्राचीन श्री वज्रसेनमूर्ति रचित "भरतेश्वरबाहुबलीघोर" नामक रास का उल्लेख किया है। कवि आसगु रचित 'चंदनबालाराम' (सं० १२५७) तथा 'स्थूलभद्रराम' (वि० सं० १२७८), श्री विजयदेवमूर्ति रचित 'शेवन्तगिरिराम' (सं० १२८८), नेमिनाथरास (सं० १२७०), इत्यादि ग्रन्थ साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता और साहित्यिकता निःसन्देह है। धर्म का आधार लेने से ही किये ग्रन्थ को साहित्य की कोटि में निष्काशित करने देने पर दक्ष-यज्ञ-विश्वंसे की लीला देखने का मिलती है। दर्श का वह स्वर, जो हेमचन्द्र के व्याकरण में सुनाई पड़ा था, अद्यावधि जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत इन रास-ग्रन्थों में भी सुनाई पड़ेगा।—

परह आम किरि कारण कीजइ

माहस सईवर सिद्धि वरीजइ ।

हीउं अनइ हाथ हथीयार

एह जि वीर तरण बदिवार ॥ —भरतेश्वरबाहुबलिराम ।

[दूसरे की आशा क्यों की जाय ? साहम से स्वयं हो सिद्धि को वरण करना चाहिए । पाम में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार ही तो वीरो का परिवार होता है ।]

वीरत्व के अतिरिक्त इन ग्रन्थों ने परम्परा से जकड़े हुए आगबित्तपूर्ण मानव-मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण में मॉम लेने की प्रेरणा दी। भोगों का बहिष्कार नहीं, उनका सम्भक् नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। शृङ्गार की पंक्ति भूमि से ऊपर उठकर ज्ञान की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही इन जैन कवियों का लक्ष्य है।

प्रेम-काव्य—हिन्दी के मध्यकाल में नवीन विचारों की जो धारा दक्षिण-मसुद्र में उत्तर के हिमालय तक प्रवाहित हुई, उमने यहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप अपने को कई स्तरों में प्रकट किया। आचार्य शुक्ल ने उने 'निर्गुण' तथा 'सगुण' दो शाखाओं में विभक्त किया। उन्होंने पुनः निर्गुण का विभाजन 'प्रेमाश्रयी' और 'ज्ञानाश्रयी' में तथा सगुण का 'रामाश्रयी' तथा 'कृष्णाश्रयी' में किया। शुक्ल जी के इस विभाजन को प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने स्वीकार कर लिया है। यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने अर्हन्त-भक्ति से सम्बन्धित उन विषयों साहित्य को, जो परिमाण और मूल्य दोनों ही दृष्टियों से काफी महत्त्वपूर्ण हैं, इस विभाजन के अन्तर्गत यह कहकर स्थान नहीं दिया कि इनकी रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। जैन-भक्ति की अखण्ड परम्परा १८वीं शती तक वर्तमान रही है और उमने भारतीय अन्तश्चेतना को सुदृढ़ तथा जागरूक बनाये रखने का अनवरत प्रयास किया है।

लोक-प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर उपदेश देने की प्रथा उस देश में पुरानी थी। ऐसी कथाओं का बृहत् संग्रह "कथा मरिचागर" है। कथाओं के माध्यम से राजनीति की शिक्षा

‘पंचतन्त्र’ में भी दी जा चुकी थी। इस प्रणाली का धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग हुआ और आभासीत सफलता मिली। इस प्रणाली को जैन-संतों ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर राग को विराग में, शृंगार को शान्त में तथा जगत की जड़ता को आत्मा की चेतनता में परिवर्तित करते हुए मानव-जीवन के मर्म का स्पर्श करनेवाली बड़ी सुन्दर कहानियाँ उन्होंने कही। उन्होंने प्रेम-कहानियाँ भी लिखी, जिनकी प्रबन्ध-शैली, प्रेमतत्व-निरूपण, कथा-परम्परा और सूक्तियों की प्रेमालोक-परम्परा में एक अद्भुत साम्य है। अतः यह कहना कि प्रेम-कथाओं की परम्परा का मूलपात सूक्तियों के द्वारा हुआ है और वे भारत की भूमि में रोपी गयी अरबी कलम है, उचित नहीं है।

जैन मुनियों द्वारा रचित प्रेम-कथाओं में जो सबसे प्राचीन प्रेम-कथा अब तक ममभी जाती है, वह है पादलिप्तमूरि की ‘तरंगवती-कथा’। चित्र-दर्शन के द्वारा इसमें प्रेमोत्पत्ति दिखलायी गयी है। ‘नायाधम्म-कथा’ में मल्लो की कथा आयी है, जिससे छह राजकुमार प्रेम करते हैं। ‘लीलावती कथा’ में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा मिहल की राजकुमारी लीलावती का प्रेमालोक है। ‘विक्रमसेगुचरिय’ में धनसार मेठ की कन्या सुन्दरी और राजा विक्रम की प्रेम-कथा है। इसमें गुण-श्रवण द्वारा प्रेम की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। अवधंश की प्रेम-कथाओं में ‘पद्मसिरोचरित’ उल्लेखनाय है। धनपाल की ‘भाविसयत्तकथा’ और जिनहर्षमूरि की ‘रयणसहेरनिवकथा’ सच्चे अर्थों में प्रेम-कथा और धर्म-कथा दोनों हैं। ये दोनों ग्रन्थ जायसी के ‘पद्मावत’ के पूर्वरूप हैं।

जैनो के पुराण-ग्रन्थों में भी कुछ प्रेम-कथाएँ मिल जाती हैं। ‘उत्तरपुराण’ के ७०वें पर्व में वनमाला की प्रेम-कथा और ७१वें पर्व में उज्जयिनी के राजपुत्र वज्रमुष्टि और उसी नगरी के सेठ की पुत्री मंगी की प्रेम-कहानी दी गयी है। हरिषेण के ‘वृहत्कथाकोश’ में भी कुछ प्रेम-कथाएँ संशुद्ध हैं। निर्युक्ति और भाष्यों में भी एक-से-एक सुन्दर प्रेम-कथाएँ आयी हैं।

देशी-भाषा में प्रेम-कथाओं की परम्परा में जो सबसे पहली कृति मिली है, वह है ‘ढोला मारुटादूहा’ इसका रचना-काल दसवीं शताब्दी के आसपास है। इसमें कछवाहा वंश के राजा तल के पुत्र ढोला और पूगल के राजा की कन्या मारवणी की प्रेम-कथा है। कुछ परिवर्तनों के साथ यह कथा सारे देश में व्याप्त है। आज भी बिहार के सुदूर गाँवों में कथा कहने वाली ऐसी बूढ़ी दादियाँ जीवित हैं जो राजा ढोलन और मरुआ की प्रेम-कहानी को गीतों में गा-गाकर सुनाती हैं। हाँ, जैसलमेर के रावल की इसका श्रेय अवश्य है कि उन्होंने अपने समय में प्राप्त दोहों को एकत्र करवा कर अपने आश्रित जैन कवि कुशललाभ (सं० १६०७) को कथा-मूल मिलाने की प्रेरणा दी।

कुशललाभ की लिखी हुई एक और प्रेम-कथा ‘माधवानलकामकन्दलाचउपई’ है। माधव तथा कामकन्दला के प्रेम को आधार बनाकर हिन्दी में तीन-चार प्रेम-कथाएँ और लिखी गयी हैं। कुशललाभ ने सं० १६१७ में कुमार हरिराज के मनोरंजनाष्ट ५५३ पद्यों में इस कथा की रचना की। इनकी ये दोनों प्रेमकथाएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं।

‘सदयवत्ससावलिगा’ की प्रेम-कथा भी इसी परम्परा में आयी है। अब्दुर्रहमान के ‘सन्देश-रासक’ में ‘नलचरित्र’ और महाभारत की कथा के साथ-साथ विनोद पूर्वक ‘सदयवच्छ’ की कथा मुने जाने का उल्लेख है। जायसी भी इस कथा से परिचित थे और कुछ के अनुसार तो उसकी कुछ घटनाओं का नियोजन भी उन्होंने अपने ‘पद्मावत’ में किया है। बिहार में ‘सारंगा और सदावृक्ष’ के नाम से इस कथा का व्यापक प्रचार है। अपने गुजराती तथा राजस्थानी रूप में यह कथा

जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुकूल है। श्री नाहटा ने एक खरतरगच्छीय जैन कवि मुनि केशव रचित 'सदेवच्छसावलिगाचीपई' की चर्चा की है, जिसका रचनाकाल सं० १६९७ है।

जटमल नाहर ने अपना 'प्रेम-विलास' सं० १६१३ में लिखा। यह भी एक प्रेम-कथा है, जिसमें योतनपुर की राजकुमारी प्रेमलता तथा मंत्री-पुत्र प्रेमविलास के प्रेम की कहानी श्रक्ति की गयी है। जटमल की एक और प्रेम-कथा है—'विद्याविलासचउपई'।

छोहल की 'पंचसहेली' भी सिर्फ ६५ दोहों में लिखित एक प्रेम-कथानक है। इसमें पाँच सखियों के विरह का वर्णन है। ये महेलियाँ पनघट पर स्वयं कवि से वार्तालाप करती हैं। यह अपने ढंग का अनूठा प्रेमाख्यान है।

जैन कवि दामोदर का 'मदनशतक' प्रेम-कथा के सभी तत्वों में भरपूर होने के कारण महत्वपूर्ण है। दामोदर ने एक ही कथानक को आधार बनाकर जहाँ 'मदनशतक' नामक प्रेमाख्यान की रचना दोहों में की है, वहाँ 'मदनकुमारराम' के नाम से इन राजस्थानी में भी लिखा है। 'मदनशतक' में कुशललाभ के अनुकरण पर दोहों के बीच-बीच में गद्य भी दे दिया गया है। इसमें 'समस्याबन्धगुल्लंख' भी आये हैं, जो दृष्टिकूटों का स्मरण दिला देते हैं।

जटमल का 'गोराबादलकी बान' (सं० १६१३ ई०), लब्धोदय का 'पदिमनीचरित्र' (सं० १६५० ई०) विशेष रूप से इसलिये उल्लेखनीय है कि ये प्रत्यक्ष रूप से जायसी से प्रभावित हैं।

'पदिनीचरित्र' में नाम में कहीं-कहीं अन्तर है, जैसे नागमती के बदले प्रभावती है। राघव और चेतन दो पंडित हैं, जायसी की तरह एक नहीं इत्यादि। इसमें उन कल्पनाओं में भी बचने का प्रयास है, जो अशक्य हैं। जूँकिये रचनाएँ जायसी के बाद लिखी गयी हैं, इसलिये 'पद्मावत' की कथा के मूल उसका इनसे कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रसंग में जायसी के 'पद्मावत' के मूल स्रोत पर भी विचार कर लेना कुछ अवाञ्छनीय नहीं होगा, क्योंकि एक तो यह ग्रंथ प्रेम-कथाओं का शिरमौर है और दूसरी बात यह है कि इसके मूल स्रोत पर विचार करने समय जैन उद्गम की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी के आम-पाम की लिखी हुई एक रचना है—धनपाल की 'भविसयत्त-कहा'। विक्रम की १५वीं शताब्दी (सं० १४८७) की एक दूसरी रचना है जिनहर्षमूरिरचित 'रयणसेहरनिबकहा'। ऐसा लगता है कि इन दोनों ग्रन्थों की सामने रखकर ही जायसी ने 'पद्मावत' का प्रणयन किया है। दूसरी से उन्होंने कथा ली है और पहली से कल्पना। दूसरी के 'रत्नसेखर' ही जायसी के रत्नसेन हैं और रत्नवती ही पद्मावती है। रत्नवती के लिये 'पद्मावती' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (ताव भरगिणदो नाग-राधा पउमावई देवी मंजुली) जायसी को यही नाम अच्छा लगा होगा। 'पद्मावत' में पद्मावती के गुण की प्रशंसा राजा मृग्ये के द्वारा मृगत है, प्राकृत-कथा में किन्नर-दम्पति के द्वारा। राजा योगी होकर सिंहलगढ के लिये प्रस्थान करता है। 'पद्मावत' की तरह ही उसकी भेंट रानी के मंदिर में होती है, पद्मावती का पता लगाने में मंत्री मनिमागर को अपार कष्ट भेलना पड़ता है। अल्लाउद्दीन के द्वारा पद्मावती के हरण की चेष्टा में जायसी का आधार इतिहास है। इसके मूल में राघवचेतन की ऐन्द्रजालिक क्रिया है। 'रत्नवती कथा' में भी रानी का ऐन्द्रजालिक अपहरण होता है। 'भविसयत्तकहा' में भी नायिका का अपहरण नायक के भाई द्वारा होता है। 'पद्मावत' की तरह पणुओं के दाम्पत्य-प्रेम का भी चित्रण इनमें हुआ है।

‘भविसयत्तकहा’ में वणिक् बन्धुदत्त की समुद्र-यात्रा और रत्नसेन की समुद्र-यात्रा में अत्यधिक साम्य है—भावों में ही नहीं, शब्दों में भी। इसी प्रकार प्रेम, विरह, मिलन, युद्ध आदि का भी वर्णन भी दोनों में समान है। यद्यपि इन जैन-कथाओं का अन्तिम लक्ष्य धर्म-साधन का माहात्म्य बतलाना है किन्तु रसात्मकता की दृष्टि से इनमें कोई कमी नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जायसी में ‘संकेत’ है और इनमें ‘रूप’ है। जायसी में एक बात अवश्य खटकती है कि नागमती को दुमिया का गोरखधन्धा कहकर भी कवि उसका साहित्यिक परिहार करने में समर्थ नहीं हो सका। नागमती जैसी रूपवाली स्त्रियाँ सिंहलद्वीप में भले ही पानी भरती हों, किन्तु हृदय तो उसे ही मिला है। हृदय की कोमलता का आभार पाकर नागमती अपने प्रकाश में पद्यावती को भी प्रभाहीन कर देती है। उसके विरह से द्रवित होकर पाठकों की गीली आँखें अन्त-अन्त तक नहीं सूखती। इस लौकिक रम के समक्ष जायसी का सारा अलौकिक ईश्वरोन्मुख प्रेम तुच्छ-सा प्रतीत होता है। ‘रघुगुणेश्वरिका’ की आत्मा दम रूप में ‘पद्यावती’ में वर्तमान है। ‘पद्यावती’ का अन्त भी शान्त रम परक हुआ है। रत्नसेन की मृत्यु और पद्मिनी के सती होने के पश्चात् कवि ने जगत की नश्वरता की चर्चा की है :—

कहाँ सो रतनमेनि अस राजा
कहाँ मुवा असि बुधि उपराजा
कहाँ मुख्य पदमावती रानी
कोई न रहा जग रही कहानी

जीवन में धर्म या अर्थ ही सब कुछ नहीं हैं। कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब आचार के बन्धनों से तनी हुई मानवी नर्ण ढीली होकर राह के थके बटोही की तरह कुछ सुस्ताना चाहती है और मानव का मन अपने से बहुत दूर बसी हुई कार्त्तिक प्रिया की स्मृति में कुछ उन्मन-उन्मन हो उठता है। जिन वस्तुओं को वह प्रत्यक्ष-जीवन की कठोरता के बीच नहीं पा सकता उसे वह कथा के लोक में पाना चाहता है। महाम् आदर्शों से परिचालित आत्माएँ भी कभी-कभी विगुह्द आनन्द की तृप्ता से आर्त्त होकर पुकार उठती हैं। ये सब प्रेम-कथाएँ इन्ही मार्मिक क्षणों की मार्मिक उद्भावनाएँ हैं। नदी के प्रवाह की तरह अज्ञात स्रोतों से निकलकर जन-मानस की भूमि को रस-प्लावित करती हुई ये प्रेम-कहानियाँ अनन्त-काल से बहती चली आ रही हैं और बहती रहेंगी। नदी में बाँध बाँधकर जिस प्रकार नहरें निहाल ली जाती हैं, उसी प्रकार इन कथाओं में कुछ ऐतिहासिक तथा काल्पनिक प्रसंगों का पुट देकर अपनी धर्म-भावना के अनुकूल मोड़ लिया गया होगा। शङ्ख-गुरु में ये कहानियाँ अपने मूल-स्रोत के बहुत समीप रही होंगी, किन्तु कालान्तर में वे इतनी चिस गयीं कि मूल कथा एकदम लुप्त हो गयी और सत्यनारायण-कथा की तरह उनका माहात्म्य ही शेष रह गया। ‘पदमावती’, ‘मृगावती’, ‘लीलावती’ नाम से व्याप्त कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। जैन कवियों ने उसी मूल स्रोत से प्रभाव ग्रहण कर अनेक धार्मिक और प्रेम-कथाएँ लिखीं। उन्होंने सूक्तियों को भी प्रभावित किया और स्वयं प्रभावित भी हुए। यही स्वाभाविक भी है। कथा में ‘महत्तम’ का ‘सामान्य’ बनाने की इनकी दृष्टि, संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का सामना करते हुए साधना के चरम-बिन्दु पर पहुँचने का इनका प्रयास, प्रेम-प्रसंगों के बीच-बीच में धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण तथा कथा के अन्त में शान्त-रस की निष्पत्ति—यह सब कुछ

विलक्षण है, सराहनीय है। अतः इस रूप में सूफी-साहित्य पर इनका ऋण कितना और कौसा है, कहना व्यर्थ है।

सन्त-साहित्य :—हिन्दी-साहित्य में 'सन्त' शब्द सामान्यतः नाथपंथियों तथा उन निर्गुणियों के लिये प्रयुक्त होता है, जो कबीर, दादू, मुन्दरदास आदि की परम्परा में आते हैं। जिन विचारों को लेकर ये सन्त आये उनकी पृष्ठभूमि पहने ही निर्मित हो चुकी थी और इनके निर्माण में जैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, नाथपंथी सभी का हाथ था। बन्तुतः वह लोक-धर्म था जो कबीर की अक्खड़ बाणों में आगे चलकर प्रकट हुआ।

सन्त-साहित्य के तीन अंग माने गये हैं:—विवेचन, चेतावनी और खडन। इसका ईश्वर 'सगुण', 'निर्गुण' से परे होकर भी प्रेम का आधार बना। साधना और प्रेम—यही उसकी प्राप्ति का आधार है। गोरखनाथ ने अपने पंथ के प्रचार में जिम हठयोग का आधार लिया था, वही हठयोग सन्त-मत की साधना का प्रधान अंग हुआ। नाथ-सम्प्रदाय में योग के महत्त्व की स्वीकृति की प्रेरणा में कौल-पंथ को माना गया है किन्तु कौलों में जो अभिचार की वृत्ति है, उसकी निन्दा गोरखनाथ ने भी की है। जैन-धर्म भी योग-प्रदान धर्म है। पाया को पाधरुद, इन्द्रियों को अपने अधीन कर केशवज्ञान की प्राप्ति जैन-पाथक का अन्तिम लक्ष्य होता है। यह स्वीकार करना तर्क-संगत है कि सिद्धों एवं नाथपंथियों पर पार्तजलि के योगशास्त्र तथा कौलों के हठयोग के अतिरिक्त जैनों के योग-सिद्धान्तों का भी प्रभाव पड़ा होगा। गुरु गोरखनाथ ने जिन बारह पंथों का अन्तर्भाव नाथपंथ में किया था उनमें 'पागम' और 'नेमि' पंथ भी थे। सिद्धों के समय में कुछ ऐसे तान्त्रिक जैन-सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिनमें योग की प्रधानता थी तथा जिनका वेग-विन्यास कौलों की तरह था। "असंग के 'मध्यान्नानुगमनाश्च' के चीनी अनुवाद में जिम न-य-मि-मो सम्प्रदाय का उल्लेख है उसे प्रोफेसर उड्डे ने न्याय-शास्त्र बताया है किन्तु किस्मिग उसमें किसी जैनी तान्त्रिक-सम्प्रदाय का अर्थ लेता है जो निर्ग्रन्थ जैनियों की एक शाखा थी। उसको दो प्रकार की साधनाएँ थी; आठ साधनाएँ, जो श्रुत-ज्ञान से आयी थी तथा आठ साधनाएँ अनुभव-जनित। डा० बरुआ ने आजीविकों के कुछ सम्प्रदायों की तुलना नाथपंथियों से की है और जैन-परम्परा से नाथ-परम्परा का सम्बन्ध जोड़ा है।"^१

इन्द्रिय-साधन, मन-साधन, प्राण-साधन आदि के द्वारा षट्चक्र-भेदन की प्रक्रिया तथा कुण्डलिनी को जाग्रत कर अनहद नाद आदि की अनुभूति आदि योगिक क्रियाएँ नाथपंथी तथा संतों में वर्तमान हैं। इड़ा तथा पिंगला के मध्य से प्रवाहित सुषुम्ना के ज्ञान की आवश्यकता कबीर ने बतायी है। हिन्दी के जैन कवि विश्वभूषण में इन योगिक क्रियाओं के प्रति उन्मुखता का भाव है। कालान्तर में गुह्य साधनों की अधिकता, मानव की स्वाभाविक वृत्तियों के उन्मेष के स्थान पर हठयोग द्वारा अस्वाभाविक तथा आरोपित वृत्तियों की प्रस्थापना तथा लोक-भावना की उपेक्षा के कारण संतों ने सहज समाधि तथा चित्त-शुद्धि पर अधिक जोर देना प्रारम्भ किया। कबीर ने "सन्तों सहज समाधि भली" कहकर जहाँ सहज जीवन पर जोर दिया वहीं जोइन्दु ने चित्त-शुद्धि को सबसे बड़ा तत्त्व बतलाया।

जहि भावइ तहि जाइ जिय, जभा बइ करि तंजि ।

केम्बइ भोवसण अत्थि पर, बित्तह सुद्धि ए जंजि ॥—परमात्मप्रकाश ।

[हे जीव ! जहाँ सुशी हो, जाओ और जो इच्छा हो, करो, किन्तु जबतक बित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक मोक्ष नहीं मिलने का]

बारहवीं शताब्दी में लिखित 'आरांदा' में शील और संयम पर ही ध्यान देने की बात कही गयी है—

सो अप्पा संजमु सीलु गुरु अप्पउ दंसण नागु ।

ववतउ संजमु डेउ गुरु आरांदा जो जिण सासणि साह ॥

सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न उदयरज जती ने 'गुण बावनी' में अन्तःकरण को निर्मल बनाने पर जोर दिया । जटा बड़ाने से क्या होता है, यदि छल और पाषण्ड नहीं छोड़ा । सिर मुड़ाने से क्या लाभ, यदि मन नहीं मूड़ा । घर छोड़ने से क्या लाभ, यदि आत्मा को नहीं समझ सके ।

जटा बघायी किमु जांभ पार्षड न छंडयउ

मस्तक मूड्यां किमु मन जौ माहि न मूडयउ

ध्रुगो किमू मैने किये जौ मन माहि मइलो रहइ

घरबार तज्यां सीधउ किमु अण बूझां उठी कहइ

कबीर मध्ययुग के सबसे बड़े मौलिक विचारक थे । मानव-मानव के बीच वर्तमान विभेद की लक्ष्मणरेखा को लाँचकर उन्होंने जिस सामाजिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद की विचार-सरणि उपस्थित की, उसकी भाषा सम्पूर्ण मध्ययुग के साहित्य में विलक्षण है । रामानन्द जैसे स्वतंत्र चिन्तक ने भी भक्ति से बाहर सामाजिक मान्यता के रूप में वर्णाश्रम को मान लिया था, किन्तु कबीर ने उसके मूल सिद्धान्त पर ही आघात कर मनुष्य मात्र की समानता का विचार उपस्थित किया । उनका साम्यवाद न तो हीगेलका का द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद है और न मानर्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' । मूर के 'नैतिक आदर्शवादी साम्यवाद' से भी बहु भिन्न है । प्लेटो के 'सामाजिक साम्यवाद' का तो कार्यरूप में परिणत करना ही असम्भव है । कबीर का साम्यवाद इन सबसे ऊँची चीज है । उसमें एक तरफ इस्लाम की व्यावहारिकता तथा दूसरी तरफ, भारतीय भूद्वैतवादी दर्शन का शुद्ध समन्वय है । जैनों की सम्पक् दृष्टि का प्रकारान्तर से इस पर काफी प्रभाव है । सोलहवीं शताब्दी में उत्पन्न जैन कवि महात्मा ध्यानन्दधन में मानव-मानव में वर्तमान मूलभूत एकता के दर्शन होते हैं । कबीर से उनमें यही अन्तर है कि जहाँ एक की भाषा झाड़ने और फटकारने वाली है, वहाँ दूसरे की वाणी में कोमलता है, नम्रता है:—

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री ।

पारस नाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥

भांजन भेद कहावत नाना, एक भुक्तिका रूप री ।

तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥

सिद्ध, सन्त, नाथ, जैन—सभी ने गुरु की महिमा को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है । वस्तुतः साधना का दुर्लभ मार्ग गुरु के सम्पक् निर्देशन के अभाव में तय नहीं किया जा सकता । इसीसे

कबीर ने गुरु और गोविन्द में प्रथम की प्राथमिकता दी है। दाढ़ के मत से सत्गुरु के मिलने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है और साहब का सहज ही दीदार हो जाता है—‘सद्गुरु मिले तो पाइये, भक्ति, मुक्ति भंडार।’ किन्तु गुरु के प्रति सन्तों की ये उक्तियाँ ‘ज्ञान’ के भ्रम हैं, भाव के नहीं। श्री कुशललाल ने अपने पूज्य गुरु आचार्य पूज्यवाहण के स्वागत में जिस भाव-विह्वल पदावली का प्रयोग किया है, वह सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के लिये अज्ञेय है, अज्ञात है। सन्तों में तथ्यपरता है, जैनियों में भावपरता।

आभ्यों मास असाइ भबूके दामिनी रे।

जोवई जोवई प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे।

चातक मधुरइ सादिक प्रीउ प्रीउ उबरइ रे।

बरसइ षण बरसात सजल सखइ भाइ रे।

इण अवसरि ओ पूज्य महामोटा जती रे।

आवकना सुख हेत आया जम्बावती रे।

जोवउ अमगुरु रीति प्रतीति बधइ वली रे।

दिक्षा रमणी माथ रमइ मननी रनी रे॥

—(ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह)

आत्मा और परमात्मा के प्रणय की भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद के नाम से पुकारी जाती है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद की परम्परा को ईरानी खजूर का भारतीय कलम कहा है, किन्तु जयशंकर प्रसाद जैसे कुछ आलोचक इसकी परम्परा को खींचकर वेदों तक ले जाते हैं। जैन-साहित्य में रहस्यवाद का मूलरूप ई० सन् की प्रथम शताब्दी में लिखित आचार्य कुन्दकुन्द के ‘भाव-पाहूड’ में दृष्टिगोचर होता है। मुनि रामसिंह के ‘बोहापाहूड’ तथा जोइन्दु के ‘परमात्मप्रकाश’ में रहस्यवाद के उम स्वर की ध्वनि मुनाई पड़ती है, जिसकी प्रतिध्वनि आगे चलकर कबीर के साहित्य में सुन पड़ी। यद्यपि जैन-धर्म ज्ञानमूलक है किन्तु हिन्दी का जैन कवि ज्ञान की अपेक्षा भाव पर अधिक जोर देता है। उसका ज्ञान भी प्रेममूलक है, कोरा ज्ञान नहीं। सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न बनारसीदास, आनन्दघन, विश्वभूषण आदि में भावात्मक रहस्यवाद अपने उत्कृष्टतम रूप में मिलता है। यह कहना कठिन है कि इसके मूल में जैन-परम्परा की प्रेरणा है या कबीर जैसे सन्तों का प्रभाव है। सम्भावना तो यही की जाती है कि सभी के समन्वय ने उनके मानस-तन्तुओं का निर्माण किया होगा। अपने को राम की बहुरिया मानकर कबीर ने जिस दाम्पत्य-भाव की साधना की, उस साधना की ज्योति ने बनारसीदास जैसे सन्तों का मार्ग-दर्शन न किया होगा, यह कैसे कहा जा सकता है, जब कि हम उनके प्रिय और प्रियतम के विरह की धड़ियों में वही तड़पन, वही बेकली, मिलन की वही लालसा और प्रियतम के वर आने पर उल्लासित आनन्द की वही धड़कन पाते हैं। प्रियतम से विछुड़ जाने पर कबीर की विरहिणी का जिया मछली की तरह तड़पने लगता है :—

तलफँ बिनु बालम मोर जिया

दिन नहि चैन रात नहि निदिया

तलफ तलफ फँ मोर किया ॥

बनारसीदास की बिरहिणी भी अपने अनौक्तिक, प्रियतम के बिरह में न जाने कब से बेचैन है। वह अपनी बेकली में भी मिलन की साथ बनाये हुए है :—

मैं बिरहिन पिय के अधीन
यों तलक ज्यों जल बिनु मीन
मेरे मन का प्यारा जो मिले
मेरा सहज सनेही जो मिले ॥—बनारसीविलास ।

उसके हृदय में एक ही प्यास है—पिया मिलन की, किन्तु वह निर्मोही न जाने कहाँ बैठा है। विश्वभूषण कहते हैं—

लगु रही मो हिय हो दरसन की, पिया दरसन की आस ।
दरसन काहि न दीजिए ॥

आनन्दधन की बिरहिणी दिन-रात मीरा की तरह पिय का पंथ निहारा करती है। उसे डर है कि कहीं उसका प्रियतम उसे भूल न गया हो। प्रियतम के लिये तो उसके समान लाखों हैं, किन्तु उसके लिये तो उसका प्यारा ही सब कुछ है :—

निशिदिन जोऊँ तोरि वाट डो, घेर आओ रे डोला ।
भुज सारिखा तुंज लाख है, मेरे तुहीं अमोला ॥

बनारसीदास की बिरहिणी के हृदय में एक ही कामना शेष रह गयी है कि जब उसका प्रियतम घर लौट आयेगा तो वह अपना सर्वस्व उसके चरणों पर निछावर कर देगी :—

जउ देखौं पिउ की उनहार
तन मन सर्वस डारौं वार

सौभाग्य से एक दिन ऐसा आता है कि कबीर और बनारसीदास दोनों की बिरहिणियों की साधना पूर्ण हो जाती है और उनके बालम अपनी-अपनी प्रियतमा की पुकार पर घर चले आते हैं। इस मिलन में कितनी अनुभूति, कितनी आनन्दजन्य मनुहार और कितना उल्लास है। कबीर की नायिका अपनी आँखों में आनन्द के आँसू भर कर पुकार उठती है :—

दुलहिनि गावहुँ मंगलाचार ।
हम घर आये हो राजा राम भरतार ॥

दुलहिन होने के कारण उसमें लाज का अवगुंठन शेष है किन्तु बनारसीदास की दुलहिन का तन-मन आनन्द के इस सम्भार को संभाल नहीं पाता और लजा का आवरण भी अस्तव्यस्त हो जाता है। बालम को देखने के साथ ही आँचल स्वतः खिसक जाता है और रही-सही लाज भी भाग जाती है—

बालम तुहँ तन चितवति गागर फूटी ।
अँचरा इतँ फहराय सरम गै छूटी ।

जैन-कवियों ने आध्यात्मिक-विवाहों के भी रूपक बोधे हैं। जीवरूपी दुलहा के साथ मोक्षरूपी रमणी का विवाह होने पर देवताओं के साथ जैन कवि अजयराज पाटणों मो आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

उनका 'शिवरमणी का विवाह' रूपक-काव्य इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। हिन्दी के अनेक जैन-कवियों में सन्तोंकी-सी रूपकात्मक वाणियाँ, ग्रन्थोक्तियाँ तथा पहेलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बनारसीदास का 'रामायण घट मोहि' पद रूपकोक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सन्तों ने अपने रूपकों के उपादान सामान्य-जीवन से लिये हैं। ज्ञान के गूढ़ तत्वों को समझाने के लिये ताना, भरनी, चरखा जैसे ग्रामीण जीवन में प्रयोग होनेवाले उपादानों का आचार उन्होंने लिया है। उसी अनुकरण पर अजयराज पाटणी का 'चरखा चउपई' इस दिशा में एक प्रयोग है। जैन-साहित्य में रूपकों में निबद्ध आध्यात्मिक काव्युपमा की अगोखी छटा दर्शनीय है। जैसे—

पिया बिनु कासौ खेलौ होरी ।

आतमराम पिया घर नाही मौकू होरी कोरी ।

एक बार प्रीतम हम खेलै उपसम-केसरि घोरी ।

'खानत' वह समया कब पाऊँ मुमति कहै कर जोरी ॥

कहीं-कहीं इन जैन कवियों ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों से भी रूपकों के उपादान ढूँढ़े हैं, किन्तु उनमें वह सरसता नहीं आ पायी है, जो सामान्य-जीवन से लिये गये उपादानों में है।

इन जैनों, सिद्धों, नाथों, तथा सन्तों की विचार-प्रणाली में ही नहीं, बरन् जैली, प्रतीक-योजना तथा उनकी साधना-प्रणाली में प्रयुक्त शब्दों में भी अद्भुत साम्य है। यह सत्य है कि शून्य, सहज, निरंजन, चन्द्र, सूर्य, शिव आदि शब्दों का सर्वत्र एक ही अर्थ नहीं है और न काल के बहते हुए प्रवाह में ऐसा होना सम्भव भी है किन्तु उनकी चिन्तन-प्रणाली, विशिष्ट भावधारा, अभिव्यक्ति का ढंग, सबको देखकर ऐसा लगता है कि ये सभी शब्द तथा भाव तत्कालीन समाज की विचार-धारा में ही व्याप्त थे और उनकी परम्परा पुरानी थी। उसी मूल स्रोत में जैनों, बौद्धों तथा अन्य सभी सम्प्रदायों ने अपने जीवन के तत्त्व ग्रहण किये। इस सम्बन्ध में एक का दूसरे पर प्रभाव दिखाना तर्कशास्त्र को शिर के बल खड़ा करने जैसा प्रयास है। जन-मानस के अज्ञात स्रोतों से बहकर आनेवाली परम्परा की यह तटिनी धाधुनिक हिन्दी के जैन-कवियों के मानस-कूलों से भी टकराई, जिसकी मधुमय अभिव्यक्ति उनके साहित्य में शत-शत रूपों में हुई है।



मानतुङ्ग

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

[.....बुद्धि-मार्ग और भगवद्भक्ति में लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुङ्ग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत है। भाषा-सौष्ठव एवं भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से भारतीय-वाङ्मय में उनका स्थान अद्वितीय है।]

मनुष्य के मन को सासारिक ऐश्वर्यों, भौतिक सुखों एवं ऐन्द्रियिक भोगों से विमुक्तकर बुद्धिमार्ग और भगवद्भक्ति में लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुङ्ग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्णात्मक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्यापूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

प्राचार्य कवि मानतुङ्ग के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में अनेक विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारीपायमल्ल वृत्त 'भक्तामरवृत्ति' में जो कि विक्रम संवत् १६६७ में समाप्त हुई है, लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुङ्ग ने ४८ साकला को तोड़कर जैन धर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैन धर्म का श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण वृत्त 'भक्तामरचरित' में है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वरहचि और मानतुङ्ग को समकालीन लिखा है। इसी आख्यान में द्विसन्धान-महाकाव्य के रचयिता धनञ्जय को मानतुङ्ग का शिष्य भी बताया है।

प्राचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर-स्तोत्र की टीका की उद्धानिका में लिखा है —

“मानतुङ्गनामक शिताम्बरो महाकवि निर्धन्याचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्नग्रन्थ मार्गो भगवत् किं क्रियतामिति ब्रूवाणो भगवत परमात्मनो गुणगणस्तोत्र विनोयतामित्यादिष्ट भक्तामर इत्यादि ।”

१ इसका अनुवाद प० उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हुआ चुका है।

२ यह कथा जैन इतिहास-विशारद स्व० प० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९१६ में बम्बई से प्रकाशित भक्तामर-स्तोत्र की भूमिका में लिखी है।

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन् ! अब मैं क्या करूँ ? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्र का प्रणयन किया गया।

वि० सं० १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित में मानतुंग के सम्बन्ध में लिखा है^१—

ये काशी निवासी धनदेव सेठ के पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी आशिका ने उनके कमण्डलु के जल में त्रसजीव बतलाये, जिससे उन्हें दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जितनिह नामक श्वेताम्बराचार्य के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर की उन्होंने रचना की।

वि० सं० १३६१ के मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ में लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पण्डित थे। वे अपनी विद्वत्ता से एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा करते थे। एक बार बाण पण्डित अपनी बहिन से मिलने गया और उसके घर जाकर रात में द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहिन रात में रुठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा। प्रातः होने पर मयूर ने कहा—

“हे तन्वंगी ! प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्रा के अधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है, अहो ! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रहे हो।”

काव्य के तीन पाद बार-बार सुनकर बाण ने चौथा चरण बना कर कहा—“हे चण्डि ! स्तनों के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है”—

गतप्राया रात्रिः कुशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो धूरित इव ।
प्रणामान्तो मानस्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम्^२ ॥

भाई के मुख से चतुर्थ पाद की सुनकर वह लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुछी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुछी हो गया। प्रातःकाल शाल से शरीर ढक कर वह राजसभा में आया। मयूर ने ‘बरकोटी’ कहकर बाण का स्वागत किया। बाण ने

१. मानतुंगसूरिचरितम्—पृ० ११२-११७—सिंधी ग्रन्थमाला, १९४० ई०।

२. प्रबन्धचिन्तामणि—सिंधी ग्रन्थमाला, सम् १६३३ पृ० ४४। प्रभावकचरित के कथानक में बाण और मयूर को समुर और दामाद लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि के श्लोक के चतुर्थ चरण में ‘चण्डि’ के स्थान पर ‘मुभू’ पाठ पाया जाता है।

३. ‘बरकोटी’ प्राकृत पद का पदच्छेद करने पर बरक ओटी—शाल ओड़कर घाये हो तथा अच्छे कुछी बने हो; ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

देवताराधन का विचार किया और सूर्य के स्वयं द्वारा कुष्ठरोग से मुक्ति पायी। मयूर ने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिका की—“मा भैषीविभ्रमम्”—स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारपूर्ण दृश्यों के घटित होने के अनन्तर किसी सम्प्रदाय-विद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैन धर्मावलम्बियों में कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग भ्राचार्य को बुलाकर राजा ने कहा—“अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखावाओ। वे बोले—हमारे देवता तो वीतरागी हैं, उनके चमत्कार क्या हो सकते हैं। हाँ, उनके किकर देवताओं का चमत्कार देखा जा सकता है। इस प्रकार कहकर अपने शरीर को चवालीस हथकड़ियों और बेड़ियों से कसवा कर उस नगर के श्रीयुगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बँठ गये। भक्तामर-स्तोत्र की रचना करने से उनकी बेड़ियाँ टूट गयीं और मन्दिर को अपने सम्मुख परिवर्तित कर शासन का प्रभाव दिखावाया।

मानतुंग के सम्बन्ध में एक इतिवृत्त श्वेताम्बरार्चा गुणाकर का भी उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामरस्तोत्रवृत्ति में, जिसकी रचना वि० सं० १४२६ में हुई है, प्रभावचरित के समान ही मयूर और बाण को श्वसुर एवं जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डी-शतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।

मानतुंग सम्बन्धी इन परस्पर विरोधी आख्यानों के अध्ययन से निम्न लिखित तथ्य उपस्थित होते हैं :—

(१) मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि प्रसिद्ध कवियों का एकत्र समवाय दिखलाने की प्रथा १० वीं शती से १६ वीं शती तक के साहित्य में उपलब्ध है। बल्लाल कवि विरचित भोज-प्रबन्ध में भी इस प्रकार के अनेक इतिवृत्त हैं।^१

(२) मानतुंग को श्वेताम्बर आख्यानों में पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी परम्परा के आधार पर दिगम्बर लेखकों ने पहले इन्हें श्वेताम्बर और पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदाय-मोह का ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य भ्राचार्यों को अपनी ओर खींचने लगे तो इस प्रकार के विकृत इतिवृत्तों का साहित्य में प्रविष्ट होना अनिवार्य हो गया।

(३) मानतुंग ने भक्तामरस्तोत्र की रचना की। दोनों सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे अपनाया। आरम्भ में इस स्तोत्र में ४८ काव्य-पद्य थे। प्रत्येक पद्य में काव्यत्व रहने के कारण ही ४८ पद्यों को ४८ काव्य कहा गया है। इन ४८ पद्यों में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चमर इन चार प्रातिहायों के निरूपक पद्यों को ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहायों के विवेचक पद्यों को निकालकर इस स्तोत्र में ४४ पद्य ही माने। चमर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए उक्त चार प्रातिहायों के बोधक चार नये पद्य और

जोड़कर पद्यों की संख्या ५२ गढ़ ली गयी।^१ वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्य में ४८ ही मूल पद्य हैं।

(४) स्तोत्र-काव्यों का महत्त्व दिखलाने के लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानों की योजना की गयी है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति कवियों के स्तोत्रों के पीछे कोई-न-कोई चमत्कार-पूर्ण आख्यान वर्तमान है। भगवद्भक्ति चाहे वह वीतरागी की हो या सारागी की, अभीष्ट पूर्ति करती है। पूजा-पद्धति के आरम्भ होने के पूर्व स्तोत्रों की परम्परा ही भक्ति के क्षेत्र में विद्यमान थी। यही कारण है कि भक्तामर, एकोभाव और कल्याणमन्दिर प्रभृति जैन स्तोत्रों के साथ भी चमत्कार-पूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं। इन आख्यानों में ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र-पाठ करने से आत्म-शुद्धि उत्पन्न होती है और यही आगिक शुद्धि अभीष्ट की सिद्धि में सहायक होती है।

समय-विचार :

मानतुंग के समय-निर्णय पर उक्त विरोधी आख्यानों से इतना प्रकाश अवश्य पड़ता है कि वे हर्ष अथवा भोज के समकालीन हैं। अतः सर्वप्रथम भोज की समकालीनता पर विचार किया जाता है। इतिहास में बताया गया है कि नीमक हर्ष के बाद उनका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उग्रनाम वाक्पाति वि० सं० १०३१ (ई० ९७४) में मालवा की गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पाति मुञ्ज ने लाट, कर्णाटक, चोल और केरल के साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्य का संरक्षक भी। उमने धारा नगरी में अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभा में पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनामसाहित्यिक रहते थे। मुञ्ज के अनन्तर मिथुराज या नवसाहसाङ्ग सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराज के अत्यन्तकालीन शासन के पश्चात् उनका पुत्र भोज परमोरा की गद्दी पर बैठा। इस राजकुल का यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होने का समय ई० सन् १००८ है। भोज ने दक्षिणी राजाओं के साथ तो युद्ध किया ही, पर तुर्क एवं गुजरात के कीर्तिराज के साथ भी युद्ध किया। मेरुतुंग के अनुसार^२ भोज ने पञ्चपन वर्ष, सात मास, तीन दिन राज्य किया था। भोज विद्या-रमिक था। उसके द्वारा रचित लगभग एक दर्जन ग्रन्थ हैं। इन्हीं भोज के समय में आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपना प्रमेयकमल-मार्तण्ड लिखा है:—

१. अभी एक भक्तामर दि० जैन समाज, भागलपुर (वी० सं० २४९०) से प्रकाशित हुआ है; जिसमें “वृष्टिदिवः सुमनसां परितः प्रपात (३५); दुष्णामनुष्यसहसामपि कोटिसंख्या (३७); देव त्वदीयसकलामलकेवलाव (३९) पद्य अधिक मुद्रित हैं।

श्वेताम्बर मान्यता का एक भक्तामर हमें मिला है; जिसमें ‘गम्भीरतारारव (३२), मन्दार-सुन्दरनरेसुपारिजात (३३), शुम्भप्रभावलय (३४), स्वर्गापवर्ग (३५) पद्य मुद्रित नहीं हैं। ३१ वें पद्य के पश्चात् ३६ वें पद्य का पाठ ३२ वें पद्य के रूप में दिया गया है।

२. पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासाः सप्त दिनत्रयम्।

भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥

—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२, सिंधी ग्रन्थमाला १९३३।

“श्रीभोजराज्ये श्रीमद्भारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामाजितामलपुष्पनिराकृतनिखिल-
मलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्घोतपरीक्षासुखपदमिदं विवृतमिति” ।^१

श्री पं० कौलाशचन्द्र जी शास्त्री ने प्रभाचन्द्र का समय ई० सन् १०२० के लगभग माना है ।
अतः भोज का राज्यकाल ११ वीं शताब्दी है ।

आचार्य कवि मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र की शैली मयूर और बाण की स्तोत्र-शैली के
समान है । अतएव भोज के राज्य में मानतुंग ने अपने स्तोत्र की रचना नहीं की है । अतः भोज के
राज्य-काल में बाण और मयूर के साथ मानतुंग का साहचर्य कराना संभव नहीं है ।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास-विद्वान् डॉ० ए० बी० कीथ ने भक्तामर-कथा के संबंध
में अनुमान किया है कि कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसारबंधन का रूपक है । उनका
कथन है—

“Perhaps the origin of the legend is simply the refer-
ence in his poem to the power of the fine to save those in
fetters, doubtless meta-phorically applied to the bonds hold-
ing men to Carnal life.”^२

अर्थात्—सम्भवतः इस कथा का मूल केवल उनकी कविता में पाशों से आवद्धजनों के
बचाने के लिए जिनदेव की शक्ति के उल्लेख में है, जो निश्चय ही मनुष्यों को सांसारिक जीवन से
बांधने वाले पाशों के लिए रूपक है ।

डॉ० कीथ ने मानतुंग को बाण के समकालीन अनुमान किया है ।^३ सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं०
गौरीशंकर हीराचन्द्र श्रोत्र्या ने अपने ‘सिरोही का इतिहास’ नामक ग्रन्थ में मानतुंग का समय हर्ष-
कालीन माना है । श्रीहर्ष का राज्याभिषेक ई० सन् ६०७ (वि० सं० ६६४) में हुआ ।

भक्तामर-स्तोत्र के अन्तरंग परोक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याण-
मंदिर का पूर्ववर्ती है । कल्याणमन्दिर में कल्या की ऊँची उड़ानें हैं वैसे इस स्तोत्र में नहीं है ।
अतः भक्तामर के बाद ही कल्याणमन्दिर की रचना हुई होगी । अतः भक्तामर की कल्याणों का
पल्लवन एवं उन कल्याणों में कुछ नवीनताओं का समावेश चमत्कारपूर्ण शैली में पाया जाता
है । भक्तामर में कहा है कि सूर्य की बात ही बया, उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित
कर देती है । उसी प्रकार हे प्रभो ! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे पर आपकी नाम-कथा ही
समस्त पापों को दूर कर देती है । यथा—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं

त्वत्संकषापि जगतां दुरितानि हन्ति

दूरे सहस्रकिरणः कुक्षे प्रभैव

पद्माकरेषु जलजानि विकासमाञ्जि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (९)

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ग्रन्थान्त-प्रशस्ति ।

१-२—A history of Sanskrit literature 1941 Page-214-215
(Religious poetry).

कल्याणमन्दिर में उपर्युक्त कल्पना को बीज रूप में स्वीकार कर बताया गया है कि जब निदाघ में कमल से युक्त तालाब की सरस वायु ही तीव्र आताप से संतप्त पक्षियों की गर्मी से रक्षा करती है, तब जलाशय की बात ही क्या ? उसी प्रकार जब आप का नाम ही संसार-ताप को दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्र के सामर्थ्य का क्या कहना ?

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन नस्तवस्ते;

नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।

तीव्रात् पोषहतपान्थ जनाम् निदाघे,

प्रीणाति पथसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥

—कल्याणमन्दिर पद्य (७)

भक्तामर-स्तोत्र की गुणगान-महत्त्व-सूचक कल्पना का प्रभाव और विस्तार भी कल्याण मन्दिर में पाया जाता है। भक्तामर-स्तोत्र में बताया गया है कि प्रभो ! संग्राम में आप के नाम का स्मरण करने से बलवान राजाओं का भी युद्ध करते हुए धोड़ों और हाथियों की भयानक गर्जना से युक्त सैन्यदल उनी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने में अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा—

वल्गुतुरङ्गजगजितभीमनाद-

माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।

उद्यद्दिवाकरमयूखशिलापविद्धं

त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाणु भिदामुपैति ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (४२)

उपर्युक्त कल्पना का रूपान्तर कल्याणमन्दिर के ३२वें पद्य में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेन के पार्श्वार्थपुदय में मेघदूत के पाद-सन्निवेश के रहने पर भी कल्पनाओं में रूपान्तर। यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनोषमदभ्रभीम—

अश्वत्तडिन्मुसलमासलघोरधारम् ।

दैव्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि वधे

तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥

—कल्याण मन्दिर स्तोत्र पद्य (३२)

इसी प्रकार भक्तामर-स्तोत्र के 'नित्योऽदयं दलितमोहमहान्धकारं' (पद्य १८) का कल्याण-मन्दिर के 'नूनं न मोहतिभिरावृतलोचनेन' (पद्य ३७) पर और 'त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्' (पद्य २३) का 'त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम्' (पद्य १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपर्युक्त विश्लेषण के प्रभाव में इस स्वीकृति का विरोध नहीं कर सकता है कि भक्तामर का शब्दों, पदों और कल्पनाओं में पर्याप्त साम्य है तथा भक्तामर की कल्पनाओं और पदावलियों का विस्तार कल्याणमन्दिर में हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदन्त के शिवमहिम्न-स्तोत्र से प्रायः मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्रकेसरीस्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शती है। यह शती मयूर, बाणभट्ट आदि के चमत्कारी स्तोत्रों की रचना के लिए प्रसिद्ध भी है।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि ई० स० की ५वीं शताब्दी से मन्त्र-तन्त्र का प्रचार विशेष रूप से हुआ है। ५वीं शताब्दी में महायान और कापालिकों ने बड़े-बड़े चमत्कार की बातें कहना प्रारम्भ की। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कार के युग में आचार्य मानतुंग ने भी भक्तामर-स्तोत्र की रचना की हो। इस स्तोत्र को उन्होंने दावाग्नि, भयंकर सर्प, राज-सेवाएँ, भयानक समुद्र आदि के भयों से रक्षा करने वाला कहा है। जलोदर एवं कुण्ड जैसी व्याधियाँ भी इस स्तोत्र के प्रभाव से नष्ट होने की बात कही गयी है। अतः स्पष्ट है कि चमत्कार के युग में बीतरागी आदिजिनका महत्त्व और चमत्कार कवि ने युग के प्रभाव से ही दिखलाया है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शताब्दी का उतरार्द्ध है।

रचना और काव्य-प्रतिभा :

मानतुंग ने ४८ पद्य-प्रमाण भक्तामर-स्तोत्र की रचना की है। यह समस्त स्तोत्र बसन्त-तिलका छन्द में लिखा गया है। इसमें आदितीर्थकर ऋषयनाथ की स्तुति की गई है। पर इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थक्षूर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्य में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार का समावेश किया गया है। इसका भाषासौष्टव और भावगाम्भीर्य प्रसिद्ध है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता है कि हे प्रभो ! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा जैसी के पात्र होने पर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे सुखर बनाती है। बसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती, प्रत्युत आस्र-मंजरी ही उसे बलान् कूजने का निमन्त्रण देती है। यथा—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुर्वते बलान्माम् ।
यत्कोकिलः किल मधो मधुरं विरौति
तच्चारुभूतकलिकानिकरं कहेतुः ॥

प्रतिशयोक्ति अलंकार में आराध्य के गुणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन् ! आप एक अद्भुत जगत-प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है न बाती, और न धूम। पर्वतों को कम्पित करने वाले वायु के झोंके भी इस दीपक तक पहुँच नहीं सकते हैं। तो भी जगत में प्रकाश फैलता है। यथा—

निर्दूषवतिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगन्नयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मस्तां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥

—भक्तामर स्तोत्र पद्य (१६)

इस पद्य में आदिजिन को सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार का समावेश किया है। अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरण इस स्तोत्र में और भी कई पाये हैं। पर १७ वें पद्य की अतिशयोक्ति बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन ! आपकी महिमा सूर्य से भी बड़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नहीं होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान प्रभाव मेघों से अवरुद्ध होता है एवं आप समस्त लोकों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से अवगत करते हैं। यथा—

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
 स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
 नाम्भोघरोदरनिष्ठ महाप्रभावः,
 सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१७)

यहाँ भगवान को अद्भुत सूर्य के रूप में वर्णित कर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शंकर, धाता और पुण्योत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधाचित्तबुद्धिबोधा-
 त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्
 धातासि धीर शिवमार्गविषेविधानात्
 व्यग्तं त्वमेव भगवन् ! पुण्योत्तमोऽसि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (३५)

इस प्रकार मानतुंग में काव्य-प्रतिभा और उनके इस स्तोत्र-काव्य में सभी काव्य-गुण समवेत हैं।



राजस्थानी जैन सन्तों की

साहित्य-साधना

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

[जैन-सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहाँ से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ-भण्डार स्थापित किये हैं। राजस्थान इसका ज्वलन्त उदाहरण है।]

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का प्रत्येक कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरव स्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों, सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं एवं कृतियों द्वारा जनता में देश-भक्ति, जाग्रति एवं नैतिकता का प्रचार किया। यहाँ के रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौर, भरतपुर, मांडौर जैसे दुर्ग यदि वीरता, देशभक्ति, एवं त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, अजमेर, आमेर, झुगरपुर, सागवाड़ा, टोडारामपिह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रन्थकारों, साहित्योपासकों एवं सन्तों के पवित्र स्थान हैं, जिन्होंने अपने संकटों एवं भ्रंश-वातों के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान् है तथा यहाँ का प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की इस पावन भूमि पर कितने ही सन्त हुये, जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्यके भण्डारको इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नहीं हो सकता। यहाँ सन्तों की परम्परा चलती ही रहो और कभी उसमें व्यवधान नहीं आया। सगुण एवं निर्गुण दोनों ही भक्ति की धारा के यहाँ सन्त होते रहे और उन्होंने आध्यात्मिक प्रवचनों, गीति-काव्यों, एवं मुक्तक-छन्दों द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा। इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, मुन्दरराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस जैन सन्तों का भी राजस्थान केन्द्र रहा। इन सन्तों के झुगरपुर, सागवाड़ा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौर आदि मुख्य नगर थे। जहाँ से वे राजस्थान के ही नहीं, किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी बिहार करते और अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का

जीवन ऊँचे उठाने का प्रयास करने रहते। ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा-विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की जनता द्वारा कृतियों की मांग की जाती उसी भाषा में अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिष्कृत कर देते। कभी वे पुराण-ग्रन्थ लिखते तो कभी काव्य ग्रन्थों के लिखने में लेखनी चलाते। ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, रस, भूलकार आदि भी उनके विविध विषय थे। वे सैकड़ों की संख्या में रास एवं कथा-ग्रन्थों की एवं फागु, बेलि, शतक एवं बारहखड़ी के रूप में रचनाएँ संरचित करके पाठकों को अध्यात्म-रस का पान कराया करते। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, आदि सभी भाषाएँ उनको अपनी भाषा रही। प्रान्तवाद, एवं भाषावाद के भगड़े में ये कभी नहीं पड़े क्योंकि इन सन्तों की साहित्य-सर्जना का उद्देश्य तो सदैव ही आत्म-सन्तोष एवं जन-कल्याण का रहा है। लेखक का विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद, पुराण, रामायण एवं महाभारत काल के ऋषियों एवं सन्तों के समान भारतीय साहित्य की जितनी अधिक सेवा एवं सुरक्षा इन जैन सन्तों ने की है उतनी अधिक किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्य द्वारा नहीं हो सकी है। राजस्थान के इन सन्तों ने स्वयं तो विविध भाषाओं में सैकड़ों-हजारों कृतियों का सर्जन किया ही, किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, नाधुओं, कवियों एवं लेखकों की रचनाओं का भी बड़े प्रेम, श्रद्धा एवं उत्साह से संग्रह किया। एक-एक ग्रंथ की कितनी ही प्रतियाँ लिखाकर ग्रन्थ-भण्डारों में विराजमान की और जनता को उन्हें पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित किया। राजस्थान के आज सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डार उनकी साहित्यिक-सेवा के ज्वलंत उदाहरण हैं। जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदाय के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी प्रच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वही से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ-भंडार स्थापित किये। इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणाम-स्वरूप राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भंडारों में १। २ लाख हस्तलिखित ग्रन्थ प्रब भी उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थ-संग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्या एवं अन्य ग्रन्थों पर टीका लिखकर उनके पठनपाठन में सहायता पहुँचायी। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भंडारों में अकेले जैमलमेर के जैन ग्रंथ-संग्रहालय ही ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालय हैं जिनको तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बड़े-से-बड़े ग्रंथ-संग्रहालय से की जा सकती है। उनमें संग्रहीत अधिकांश ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रतियाँ हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति हैं। ताड़पत्र पर लिखी हुई इनकी पुरानी प्रतियाँ अन्यत्र मिलना संभव नहीं है। श्री जिनचन्द्रसूरि ने संवत् १४४७ में गृहलज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचा लिया। जैमलमेर के इन भंडारों को देखकर कर्नल टाड, डा० ब्रूलर, डा० जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान एवं भाण्डारकर, दलाल जैसे भारतीय विद्वान आश्चर्यचकित रह गये और यहाँ के महत्वपूर्ण संग्रह को प्राप्त कर दातों तले अंगुली दबायी। दोगाचार्य कृत घोषनिर्मुक्ति-वृत्ति की इस भंडार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी संवत् १११७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी। जेनागमो एवं ग्रन्थों की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श (संवत् ११९१), मम्मट के

१. ग्रन्थ-भंडारों का विस्तृत परिचय के लिए देखिये लेखक द्वारा लिखित Jain Granth Bhandars in Rajasthan.

काव्यप्रकाश (संवत् १२१४), खट्ट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका (संवत् १२०६) एवं कुन्तक के चक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं। विमलसूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पञ्चचरिय की संवत् १२०४ की जो प्रति है वह संभवतः अबतक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है। इसी तरह उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन प्रति है जो संवत् १२६१ की लिखी हुई है। कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टि आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भंडारों के प्रतिरिक्त. आमेर, भजमेर, नागौर, बीकानेर के भंडारों में संग्रहीत हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्त्वकौमुदी, पातंजल योगदर्शन, न्यायबिन्दु, न्यायकन्दली, खंडन-खंडखाद्य, गौतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन सन्तो द्वारा लिखी हुई इन भंडारों में संग्रहीत हैं। नाटक-साहित्य में मुद्राराक्षस, बेणीसंहार, घनधराधव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं। जैन सन्तों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली, किन्तु हिन्दी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया। कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियों द्वारा लिखा दुष्मा अधिकांश साहित्य आमेर-शास्त्र-भंडार जयपुर में संग्रहीत है। इसी तरह पृथ्वीराजरासो एवं वीसलदेवरासो की महत्वपूर्ण प्रतियाँ बीकानेर एवं कोटा के शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं। कृष्णकृष्णिवेलि, रसिकप्रिया एवं बिहारीमतमई की तो गद्य-पद्य सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भंडारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं।

राजस्थान के ये जैन सन्त साहित्य के सच्चे साधक थे। आत्मचिंतन एवं आध्यात्मिक चर्चा के प्रतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता उसका पूरा सदुपयोग साहित्य-रचना में करते। ये स्वयं ग्रन्थ लिखते, दूसरों से लिखाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते। वे ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में बड़ा परिश्रम करते। दिन भर कमर झुकाने शुद्ध प्रतिलिपि करते एवं सुन्दर तथा सुवाच्य लिखते। इन सन्तों के घोर परिश्रम से आज अकेले राजस्थान में ११-२ लाख से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह मिलता है। किन्तु अब भी कितने ही ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालय हैं जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नहीं की जा सकी है। राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने तथा श्रीमहावीर-क्षेत्र के साहित्य-शोध-संस्थान द्वारा राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों की ग्रन्थ-सूची बनाने के सिलसिले में मुझे यहाँ के १०० से भी अधिक ग्रन्थ-भण्डारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और इसी अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि धर्मान्ध मुसलिम शासकों द्वारा इन शास्त्र-भण्डारों का विनाश नहीं किया जाता तथा हमारी ही लापरवाही से हजारों ग्रन्थ बूहे, दीमक एवं सीलन से नष्ट नहीं होते, तो पता नहीं आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारों में ग्रन्थ उपलब्ध होते।

अब यहाँ राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तों की भाषानुसार साहित्य-सेवा पर प्रकाश डाला जा रहा है—

जम्बूद्वीपपण्णति के रचयिता आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी सन्त थे। प्रज्ञाति का रचना-स्थान बांरा है, जो आजकल राजस्थान का एक उपजिला है। हरिभद्रसूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे, जो प्राकृत एवं संस्कृत के जबरदस्त विद्वान् थे। इनका सम्बन्ध चित्तौर से था। आगम-ग्रन्थों के

एवं न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसी तरह महेश्वरमूर्ति भी प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे और ये भी राजस्थान के प्रदेश को मुशोभित करनेवाले थे। जानपञ्चमीकहा एवं संयम-मंजरीकहा इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिवेण भी चित्तौर के निवासी थे। इन्होंने अपनी कृति धम्मपरिवक्ता को अंचलपुर में संवत् १०४० में समाप्त की थी। धम्मपरिवक्ता के प्रतिरिक्त अपभ्रंश की १०० से भी अधिक रचनायें राजस्थान के इन शास्त्र-भण्डारों में संरक्षित हैं जो इन जैन मन्तों द्वारा लिपिवद्ध की हुई हैं।

राजस्थान के अधिकांश मंत संस्कृत के भी विद्वान् थे। संस्कृत से उन्हें विशेष रुचि थी और इसीलिये उन्होंने पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का खूब सर्जन किया। राजस्थान के सिद्धार्थ मंभवतः प्रथम जैन मन्त थे, जिन्होंने उपदिग्गमाला पर संस्कृत-टीका लिखी और उपनिमित्तवर्षचक्रा की संवत् ९६२ में समाप्त किया। १२ वीं शताब्दी में होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से राजस्थानी जनता कम उत्कृत नहीं है। इनके द्वारा लिखे हुए साहित्य का इस प्रदेश में खूब प्रचार रहा, जो आज दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों भण्डारों में काफी अधिक संख्या में मिलता है।

१३ वीं शताब्दी में होने वाले महावंदिन आणावर राजस्थानी विद्वान् थे। उनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा एवं प्रारम्भिक युवावस्था राजस्थान के माण्डवगढ़ (मेवाड़) में व्यतीत हुआ था। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे और उन्होंने २० से अधिक ग्रन्थों की रचना की है तथा टीकाएँ लिखी हैं। १५१६ शताब्दी में राजस्थान में भट्टारक सकलकीर्ति के उदय से एक नये रूप का अध्याय प्रारम्भ हुआ। उन्होंने साहित्य-निर्माण की ओर मन्तो एवं जनता दोनों का ध्यान आकृष्ट किया। इनकी परम्परा में होने वाले अधिकांश भट्टारक संस्कृत के प्रमुख विद्वान् थे, जिनमें भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदाम, भट्टारक जानभूषण, विजयकीर्ति, शम्भुचन्द्र, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भ० सकलकीर्ति के जीवन पर पूरी खोज होना आवश्यक है। उन्होंने संस्कृत में २८ से अधिक रचनायें करके साहित्यिक क्षेत्र में एक अद्भुत क्रान्ति की। इसी तरह इनके शिष्यों ने ब्रह्मजिनदाम ने संस्कृत में १२ से अधिक कृतियाँ, एवं शम्भुचन्द्र ने २४ रचनायें लिखकर संस्कृत-भाषा-साहित्य के भण्डार को भर दिया। उक्त विद्वानों के प्रतिरिक्त राजस्थान में होने वाले विद्वानों में आचार्य सोमकीर्ति, ब्र० राघवमल, ब्र० कामराज, सोमसेन एवं हर्षकीर्ति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १५ वीं शताब्दी में ही जिनभद्रमूरी ने जैमलेर में बृहद्ज्ञानभण्डार की स्थापना की तथा अमेर, अजमेर एवं नागौर में बाद में भट्टारकों द्वारा शास्त्र-भण्डारों की स्थापना की गयी, जिनके कारण साहित्य की प्रमुख रूप से रचना हो सकी।

हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य-रचना बहुत पहले से प्रारम्भ हो गयी थी। जन-साधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन मन्तो ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने पहले छोटी-छोटी रचनायें लिखी। रास, गीत, बेलि, फागु एवं बारहमासा के रूप में छोटी-छोटी रचनायें लिखकर जन-साधारण का ज्ञान की ओर आकर्षण उत्पन्न किया। उन्होंने साहित्य में धार्मिक पुट देकर उसे लोकप्रिय एवं

सम्माननीय बनाया। हिन्दी के आदिकाल की रचनाओं में जैन सन्तों द्वारा रचित कृतियों का प्रमुख स्थान है। इन रचनाओं में शालिभद्रमूर्ति का भरतेश्वरबाहुबलिरास, विजयसेनमूर्ति का रेवतगिरिरास, मुमतिगणिका नेमिनाथरास, विनयमल का गौतमरास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१५वीं-१६वीं शताब्दी में तो राजस्थानी सन्तों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में कितनी ही महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखी। भट्टारक सकलकीर्ति ने राजस्थानी भाषा में चार रचनाएँ लिखीं, किन्तु उनके शिष्य ब्रह्मजिनदास ने ३३ रास-ग्रन्थ, २ ग्रन्थ-पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ४ व्रत-पूजाएँ एवं ७ छोटी रचनाएँ लिखकर अपने हिन्दी-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया। हिन्दी के किसी भी सन्त एवं विद्वान् द्वारा संभवतः इतनी अधिक रचनाएँ नहीं लिखी गयी होंगी। ब्रह्मजिनदास की इन रचनाओं में रामसौताररास, श्रीगालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहंसरास, हरिवंश-पुराण एवं आदिनाथपुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मजिनदास के समकालीन आचार्य जिनराजमूर्ति के शिष्य महोपाध्याय जयसागर के भी राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनाएँ लिखी। १६वीं शताब्दी के विद्वान् मतिसागर के धन्नारास, नेमिनाथवसंत, मयणरेहाररास, इलापुत्रचरित्र, नेमिनाथगीत के नाम उल्लेखनीय हैं। १६वीं शताब्दी में ही ब्रह्मवराज प्रसिद्ध विद्वान् हुये, जिन्होंने मयणजुम्भ, सन्तोषलोक-जयमाल, चेतनपुद्गल ध्यान आदि रूपा-काव्य लिखकर इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। इसी तरह पार्श्वनाथमूर्ति भी इसी शताब्दी के प्रभावशाली विद्वान् थे। इन्होंने राजस्थानी भाषा को ५० से भी अधिक रचनाएँ समर्पित करके साहित्य-सेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया। ढोला-चौपई एवं माधवानलचौपई के रचयिता कुशललाभ गणि भी राजस्थानी सन्त थे।

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रह्म रायमल्ल एक अछड़े सन्त हुए, जिनकी हनुमानचौपई, मुदगनरास, भविष्यदत्तरास, मधुमनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनाएँ हैं। इन्होंने राजस्थान के विभिन्न स्थानों में ग्रन्थ-रचनाएँ सम्पन्न कीं, जिनमें गढ़हरमोर, गढ़रणभूमोर, एवं सांगानेर के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। समयमुन्दर राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। श्रीहजारोप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में कवि का ज्ञान परिकर बहुत ही विस्तृत है, इसलिये वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आभास के सहज ही संभाल लेता है। इन्होंने संस्कृत में २६ तथा हिन्दी राजस्थानी में २३ रचनाएँ लिखकर उसके प्रचार में विशेष सहायता दी।

राजस्थान का बागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है। इसलिये गुजरात में होने वाले बहुत से भट्टारक एवं सन्त राजस्थान प्रदेश को भी अपनी चरण-भूमि से पवित्र करते। यहाँ वे साहित्य-रचना करते एवं उससे अपने भक्तों को रसास्वादन कराते। इन सन्तों में भ० रत्नकीर्ति, कुमदचन्द्र, अभयचन्द्र, शुभचन्द्र, ब्रह्म नयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी हिन्दी, राजस्थानी एवं संस्कृत भाषा के अछड़े विद्वान् थे। और इनकी कितनी ही रचनाएँ राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध होती हैं।

अपभ्रंश में कडवक छंद

का

स्वरूप और विकास

डॉ० राजाराम जैन

[कडवक का विकास लोक-गीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा-छन्द इसके लिये छाटा पड़ने लगा, तब अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धतियाँ छन्द का विकास किया। उसी रूप में १६, २०, २४, २८, ३२ एवं ४८ अर्धालियों के अनन्तर घटा देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।]

शब्दों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से नहीं, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों के मूल्य-निर्धारण में उपयोगी होने के कारण इनका सम्बन्ध मानवमात्र से है। जिस प्रकार आर्थिक मूल्यों का संचालन निष्कों द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह शब्दों द्वारा। शब्द छन्द का रूप धारण कर विपश्चित भावाभिव्यक्ति कर संगीत का कार्य सम्पन्न करने है। यही कारण है कि प्रकृति की पाठशाला में बैठकर मनुष्य ने जब से गुनगुनाने का कार्य आरम्भ किया तभी से छन्द की उत्पत्ति हुई।

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति 'छन्द' धातु से मानी गई है, जिसका अर्थ आश्रित करने या रक्षित करने के साथ प्रसन्न करना भी होता है। 'निघण्टु' में प्रसन्न करने के अर्थ में एक 'छन्द' धातु भी उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'छन्द' की उत्पत्ति इसी 'छन्द' धातु से हुई है। भारतीय वाङ्मय में छन्द का वैवाङ्मय माना गया है और उन्हे वेदों का चरण कहा है। महर्षि पारिणि ने ईस्वी सन् से लगभग ५०० वर्ष पूर्व ही 'छन्दः पादो तु वेदस्य' की घोषणा की थी। बृहदेवता में कहा गया है कि जो व्यक्ति छन्द के उतार चढ़ाव को बिना जाने ही वेद का अध्ययन करता रहता है वह पापी है। यथा—

अविदित्वा ऋषिच्छन्दो देवतं योगमेव च।

योऽध्यापयेज्जपेत् वापि पापीयाप्त जायते तु सः ॥

पर छन्द-शास्त्र की व्यवस्थित परम्परा आचार्य पिंगल के छन्दसूत्र से प्राप्त होती है। अनादि काल से ही मानव छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्य-प्राप्त बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द, ताल, तुक और स्वर समस्त मानव-समाज की स्पन्दनशील बनाते हैं।

संवेदनशीलता उत्पन्न कराने में छन्द से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसी साधन के बल से मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षा एवं अनुराग-विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रेषित किया है। वैदिक-साहित्य में प्रयुक्त गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती छन्द प्रमुख हैं। लौकिक संस्कृत में तो वहाँ और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का विविधरूप में प्रयोग हुआ है। इस छन्द-वैविध्य के बीच भी संस्कृत में अनुष्टुप छन्द इतना प्रसिद्ध रहा है कि जिससे वह पद्य का पर्यायवाची ही बन गया। संस्कृतभाषा की प्रकृति के अनुसार अनुष्टुप वह छन्द है, जो प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि कल्ल, वीर, शृङ्गार, विलास, वैभव, अनुराग, विराग प्रभृति विभिन्न प्रकार की भावावली की अभिव्यञ्जना इस छोटे से छन्द में पाई जाती है।

ईसापूर्व ६-७ वीं सदी में ही लोक-भाषाओं ने जब काव्य का आसन ग्रहण किया तब भावलय के साधन 'छन्द' में भी परिवर्तन हुआ। 'ये तो वैदिक काल में ही गाथा-छन्द का अस्तित्व था। ऋग्वेद में गाथा-शब्द 'छन्द' और आख्यान इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। पर यह गाथा-छन्द प्राकृत का वह निजी छन्द बना, जो अनुराग-विराग एवं हर्ष-विषाद आदि सभी प्रकार के भावों की अभिव्यञ्जना के लिये पूर्ण सज्जत है। यही कारण है कि प्रवरसेन द्वितीय, वाक्यतिराज और कुतूहल जैसे कवियों ने प्रेम, शृङ्गार, युद्ध एवं जन्मोत्सव आदि का वर्णन इसी छन्द में किया है। वाक्यतिराज ने अपने 'गडडवहो' नामक काव्य में आद्यन्त गाथा-छन्द का ही प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राकृत के कवियों की दृष्टि में सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यञ्जना इस एक छन्द में भी सम्भव है।

प्राकृत के पश्चात् ई० सन् की छठवीं सदी में ही जब अपभ्रंश ने काव्य-भाषा का आसन ग्रहण किया तो दोहा-छन्द अनुष्टुप के तृतीय संस्करण और गाथा के द्वितीयसंस्करण के रूप में उत्पन्न हुआ। यह दोहा-छन्द मात्रिक छन्द है और मात्रिक-छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत में प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि मात्रिक छन्दों के बीच लोक गीतों में पाये जाते हैं। संगीत का रागिनी देने के लिये मात्रिक छन्द ही उपयुक्त होते हैं। तुक का मिलना ही संगीत में लय उत्पन्न करता है। यही कारण है कि सम आर विषम चरणों में तुक मिलाने की पद्धति संगीत के लिये विशेष प्रिय हुई है।

दोहा-छन्द, जिसमें कि दूसरे और चौथे चरण में तुक मिलती है, अपभ्रंश के लिये अत्यधिक प्रिय रहा है। जितना भी प्राचीन अपभ्रंश साहित्य है, वह सब दोहो में लिखा हुआ ही मिलता है। कडवक-पद्धति का आधिभावं कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। महाकवि स्वयम्भू ने अपने 'रिटुण्णमिचरित' की उद्यानिका में पूर्ववर्ती शास्त्रकारों और कवियों के प्रति कुतर्जना जापित करते हुए कहा है :—

छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समणिय पड्डडिया ।—रिटु० १।२।११

अर्थात् कवि चउमुह ने दुवई और धुवको से जड़ा हुआ पड्डडिया छन्द समर्पित किया। इस उल्लेख से इतना स्पष्ट है कि चउमुह कवि ने ध्रुवक और दुवई के मेल से पड्डडिया छन्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य में व्यवहृत कडवक इसी पड्डडिया छन्द का विकसित रूप है।

अलंकारशास्त्रियों ने "सर्गः कडवकाभिषः" (साहित्यदर्पण ६।३२७) कहकर कडवको को सर्ग का सूचक माना है। संस्कृत का 'सर्ग' शब्द प्राकृत में आशवास बना और यही अपभ्रंश में आकर कडवक बन गया। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि कतिपय अपभ्रंश-ग्रन्थों में सर्ग के स्थान पर सन्धि या परिच्छेद शब्द का व्यवहार हुआ है, अतः कडवकों को सर्ग मानना उचित नहीं है। महाकाव्य में सर्ग का ठीक वही महत्त्व है, जो नाटक में अंक का। नाटक का अंक कथा के किसी निश्चित बिन्दु पर समाप्त होता है। वह एक अवान्तर कार्य की परिसमाप्ति की सूचना भी देता है। ठीक यही काम सर्ग भी करता है, पर कडवक इतने छोटे होते हैं कि वे इस सर्ग की उक्त शक्त को पूर्ण नहीं कर पाते। अतएव सन्धि को तो सर्ग अवश्य कहा जा सकता है, पर कडवकों को नहीं। हमारा अपना अनुमान है कि कडवक का विकास लोकगीतों के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा-छन्द इसके लिये छोटा पड़ने लगा तब अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक-छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के बहन कर सकने योग्य पद्धतिया-छन्द का विकास किया। १६, २०, २४, २८, ३२, एवं ४८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता छन्द देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।

लोक-गीतों के विकास से अवगत होता है कि वीरपुरुषों के आस्थान गेय रूप में प्रस्तुत किये जाते थे। ये गीत किसी-न किसी आस्थान की लेकर चलते थे। गेयता रहने के कारण आस्थान रोचक हो जाते थे। प्राकृत-काल में भी प्रबन्ध-लोकगीत अवश्य रहे होंगे और इन गीतों का रुगठन बहुत कुछ पद्धतिया-छन्द से मिलता-जुलता रहा होगा। यदि यो कहा जाय कि प्रबन्ध-लोकगीतों में व्यवहृत तुकवाला छन्द, जिसका कि मूल उद्देश्य द्वितीय और चतुर्थ चरण की तुक मिलाकर आनन्दानुभूति उत्पन्न करना था, पद्धतिया का पूर्वज है तो कोई अस्युक्ति न होगी। अतः चतुर्दश कवि के जिस पद्धतिया-छन्द का उल्लेख स्वयम्भू कवि ने किया है, वह निश्चितः प्रबन्ध-लोकगीत से विकसित हुआ ही होगा। हम अपने कथन की पुष्टि में एक सबल प्रमाण यह उपस्थित कर सकते हैं कि कडवक ठीक लोक प्रबन्धगीत का वह रूप है, जिसमें लोकगीत-गायक चाहता और सुविधा के आधार पर अपने प्रबन्ध को कई एक गीतों में विभक्त कर विरामस्थल उत्पन्न करता है। ठीक यही परम्परा कडवक की है। इसमें भी एक सन्दर्भांश को कुछ अर्धालियों में निबद्ध कर घत्ता के द्वारा विरामस्थल उत्पन्न कर कडवक का सजन किया जाता है। अतः कडवक का विकास प्रबन्ध-लोकगीतों की परम्परा से मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कडवक की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार आचार्य हमचन्द्र ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने 'छन्दोऽनुशासन' में (६।१) में लिखा है :—

सत्यादी कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा ।

अपनी संस्कृत-वृत्ति में स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि—

'चतुर्भिः पद्धतिकाद्यैश्छन्दाभिः कडवकम् । तस्यान्ते ध्रुवं निश्चितं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवकं, घत्ता चेति संज्ञान्तरम् ।' अर्थात् चार पद्धतिया छन्दों का कडवक होता है। कडवक के अन्त में ध्रुवा या घत्ता का रहना आवश्यक है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'ध्रुवाभिधाने चैवास्' (१५।१५) कहकर छन्द के अन्त में ध्रुवा का प्रयोग बताया है। आचार्य हेम ने ध्रुवा की परिभाषा पट्पदी, चतुष्पदी एवं द्विपदी के रूप में प्रस्तुत की है। यथा—

सा त्रेधा षट्पदी, चतुष्पदी द्विपदी च । ६।२

प्रयोगात्मक विधि से कडवक की परिभाषा का विश्लेषण करने पर उसके अनेक रूप हमें उपलब्ध होते हैं। जग्मेटिया, जिसके कि प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ, रचिता, जिसके कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में २८ मात्राएँ, मलयत्रिलयसिया, जिसके प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ खंड्य २३ मात्राओं वाला छन्द, आवला २० मात्रावाला छन्द, हेल्ला २२ मात्रावाला छन्द, दुवई, प्रत्येक अर्धाली में २८ मात्रावाला छन्द घत्ता के पूर्व पाया जाता है और चरणों की संख्या १४ से लेकर ३० तक पाई जाती है। कडवक के लिये अनिवार्य नियम घत्ता का पाया जाना है। कडवक में छन्द के पदों की कोई निश्चित संख्या नहीं पायी जाती। पुष्पदन्त ने ६ अर्धालियों से लेकर १३ अर्धालियों तक का प्रयोग कडवक में किया है। इनके हरिवंश में ८३वी सन्धि के १५वें कडवक में १० अर्धालियों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग आया है और इसी सन्धि के १६वें कडवक में १२ अर्धालियों के पश्चात् घत्ता आया है। स्वयम्भू ने ८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता छन्द का व्यवहार किया है। यही शैली रामचरितमानस में भी पाई जाती है। महाकवि तुलसीदास ने ८ अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहे का प्रयोग किया है।

महाकवि जायसी ने अपने पद्यावत में ७ अर्धालियों के पश्चात् दोहा छन्द रखा है। यह छन्द-शैली पुष्पदन्त की कडवक-शैली से प्रभावित है। पुष्पदन्त ने ७ अर्धालियों से लेकर १२ अर्धालियों तक का घत्ता के पूर्व नियोजन किया है।

नूर मुहम्मद की अनुराग-वामुरी में दोहा के स्थान पर बरबै छन्द का प्रयोग पाया जाता है। अर्धालियों की संख्या अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के समान ही है। अपभ्रंश-काव्य में घत्ता की मात्राएँ समान नहीं हैं, अतः हिन्दी का बरबै भी घत्ता का ही रूपान्तर है। सोरठा, बरबै, कुण्डलिया का पूर्वार्ध एवं रोला का विकास भी घत्ता से ही हुआ है। या तो रोला का प्रयोग अपभ्रंश में पाया जाता है, पर छन्द के विकास-क्रम पर ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि घत्ता ने अनेक रूप धारण किये हैं और रोला भी उन्हीं अनेक रूपों में से एक है। यही कारण है कि स्वयम्भू और प्राकृत-वैगलम् इन दोनों के द्वारा प्रतिपादित घत्ता की मात्राओं में भी अन्तर पाया जाता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना महज ही सम्भव है कि कडवक वह छन्द है जिसमें ७ से लेकर १६ या १८ तक अर्धालियाँ हों और अन्त में एक ध्रुवक या घत्ता का व्यवहार किया गया हो।



अपभ्रंश-साहित्य

और

साहित्यकार

श्री प्रेमसुमन जैन

स्नातक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

[अपभ्रंश-साहित्य में उन सभी साहित्यिक-विधाओं का समावेश है, जिनमें आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराणग्रन्थों का महाकाव्य, चरितग्रन्थों को प्रबन्धकाव्य, कथाग्रन्थों को खण्डकाव्य तथा फुटकर साहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि में सहज ही रखा जा सकता है।अतः इसमें दो मत नहीं हो सकते कि अपभ्रंश-साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।]

भारतीय वाङ्मय का मध्ययुग अपभ्रंश-साहित्य का युग है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अपभ्रंश भाषा भी अपने समय में काफी समृद्ध एवं लोकप्रिय थी। अपभ्रंश-साहित्य की प्रचुरता एवं समृद्धि इस बात की साक्षी है। हर भाषा सर्व-माधारण में प्रिय एवं प्रसारित हो जाने पर साहित्यिक बाना धारण करती है। तभी वह समृद्ध भाषाओं की कोटि में गिनी जाती है। अपभ्रंश भाषा भी इसी क्रम में पल्लवित हुई है। प्रायः जैन विद्वानों की अमर कृतियों ही अपभ्रंश साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। जैनतर विद्वानों ने जो कुछ भी इसमें लिखा वह साहित्य अपभ्रंश साहित्य का कलिवर तो बढाता है, किन्तु किसी नवीन विधा की सृष्टि नहीं करता। प्रस्तुत निबन्ध अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति, विकास एवं साहित्यिक-विधाओं के समुचित विवेचन द्वारा यह तथ्य प्रकाश में लाने की दिशा में है कि वर्तमान भारतीय वाङ्मय को समृद्ध बनाने में अपभ्रंश-साहित्य को प्रकाश में लाने की कितनी महती आवश्यकता है।

उत्पत्ति :

प्रारम्भ में अपभ्रंश शब्द का अर्थ था, शिष्टतर या शब्द का बिगड़ा हुआ रूप। पातञ्जलि और उनके पूर्व के आचार्य उन शब्दों को अपभ्रंश समझते थे, जो संस्कृत भाषा में विकृत या भ्रष्ट होते थे।^१ भरत मुनि अपभ्रंश को विभ्रष्ट नाम से पुकारते हैं। इस समय तक अपभ्रंश हिमप्रदेश, सिन्धु और सौवीर में वर्तमान थी।^२ ६ वीं सदी के भामह अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप मानने लगे थे।^३ यद्यपि उस समय की अभी तक कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है।

१. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुषुक्षिते ।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिर्वाणितम् ॥ —वाचस्पदीयम्, प्रथम पाण्ड, १४८

२. नाट्य० १७-६२ । ३—काव्यालंकार १. १६. २८ ।

सातवीं सदी के दण्डी ने अपभ्रंश को वाङ्मय के एक भेद के रूप में निर्देश किया है।^१ आठवीं सदी के विद्वान-लेखक उद्योतनमूरि अपभ्रंश को आदरकी दृष्टि से तो देखते ही थे, उसके साहित्य की प्रशंसा भी करते थे।^२ नवीं शताब्दी में काव्यालंकार के रचयिता कवि रुद्रट ने अपभ्रंश के आधार पर काव्य के भेद किये हैं।^३ दसवीं सदी के पुष्पदन्त के महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ राजकुमारियों को अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था, ऐसा उल्लेख है।^४ इसी समय के राजशेखर ने काव्यपुरुष के जघन के रूप में अपभ्रंश को स्वीकार किया है।^५

इसके अनन्तर सम्वत् ११ वीं, वाग्भट, गुणचन्द्र एवं अमरचन्द्र १२ वीं सदी के ये सब विद्वान अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत की कोटि की साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं। इस तरह अपभ्रंश भाषा का नाम लगभग प्रथम शताब्दी के करीब लिया जाने लगा था। छठीवीं सदी में वह साहित्यिक भाषा की मूर्च्छा हो गयी थी और ११ वीं सदी तक आते-आते अपभ्रंश भाषा व्याकरण और साहित्य में व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगी थी।^६

विकास :

विकास की दृष्टि से साबें तो हमें देखना होगा कि अपभ्रंश भाषा किस तरह साहित्यारूढ़ हुई है; क्योंकि हर भाषा का विकास उसमें होने वाले साहित्य-निर्माण के द्वारा होता है। अपभ्रंश के पूर्व प्राकृत में ग्रन्थ रचे जाते थे। ५ वीं सदी के लगभग प्राकृतों के व्याकरण बने। इससे प्राकृतों में होने वाला साहित्य-सृजन रुक गया। क्योंकि व्याकरण में बंध जाने के कारण किसी भी भाषा में अधिक साहित्य-सृजन नहीं हो पाता। साहित्यिक-प्राकृतों के विकास के रुक जाने से उस समय में प्रचलित बोलचाल की देशी भाषाएँ तीव्र गति से आगे बढ़ीं। इनके पूर्व भी उनका प्रसार हो रहा था। इधर वे अपभ्रंश के नाम से विख्यात हो गयीं। धीरे-धीरे उसमें साहित्य भी रचा जाने लगा। १३ वीं सदी में अपभ्रंश भाषा अपने पूर्ण विकास पर थी। तभी महाकवि विद्यापति को कहना पड़ा है कि—“संस्कृत बहुतों को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत-रसके नर्म से अपरिचित है। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसलिए मैं उसी में रचना करता हूँ।”^७ इसके बाद जन-साधारण की भाषा का रूप जरूर बदला, किन्तु अपभ्रंश में १७ वीं सदी तक साहित्य रचना बराबर होती रही।

अन्य भाषाओं पर प्रभाव :

अपभ्रंश भाषा का महत्व इससे और बढ़ जाता है कि उसे जैन विद्वानों के अथक परिश्रम के कारण भारतीय भाषाओं की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त है। बंगाली, गुजराती, राजस्थानी,

१. काव्यादर्श १-३२। २. अपभ्रंश-काव्यत्रयी भू. ९७-९८। ३. काव्या० २.११।

४. महापुराण ५.१८.६। ५-अध्या. ३. पृ० ६। ६. अपभ्रंश-साहित्य, हरिवंश कोच्छड़,।

७. सफ़इ बारी बहु न भावइ
पाउस रस को मम न जानइ।
देसल बउना सब जन मिट्टा
ते तैसल जम्पओ अवहट्टा॥

पंजाबी एवं हिन्दी आदि प्रान्तीय आर्य भाषाएँ अपभ्रंश से ही प्रभूत मानी जाती हैं। इन भाषाओं का विकास तत्कालीन प्रचलित सर्व-साधारण की बोलियों से हुआ है। उस समय, लगभग १३वीं सदी से १५वीं सदी तक प्रान्तीय शब्दों और रूपों के मेल से एक भाषा विकसित हुई थी, जिसे अवहट्ठ कहा गया है। वस्तुतः यह अवहट्ठ भाषा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश के बीच की कड़ी है।^१

अपभ्रंश भाषा के अनेक भेदों से अलग-अलग प्रान्तीय भाषाएँ प्रभूत हुई हैं। शौरसेनी अपभ्रंश में ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती एवं पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध है। मागधी अपभ्रंश में भोजपुरी, उड़िया, बंगाली, आसामी, मैथिली एवं मगही का विकास हुआ और अर्धमागधी अपभ्रंश में पूर्वी हिन्दी एवं अवधो का। ये प्रान्तीय भाषाएँ १०वीं सदी में अपभ्रंश के माथ चलने लगी थीं। १३-१४ वीं सदी तक ये भाषाएँ अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित दिखायी देती हैं, किन्तु उसके बाद अपभ्रंश साहित्य भी इन प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होता रहा है।^२ विषय-विस्तार के भय से यहाँ उद्धरण उपस्थित नहीं किये जा सकते।

प्रायः विद्वान्, अधिकतर जैन, अपभ्रंश-साहित्य में जैन विद्वानों के योगदान की चर्चा करते अधिक तजर आते हैं। किन्तु मेरे विचार में तो इस ढंग से सोचना भी अपभ्रंश-साहित्य के प्रति ईमानदारी नहीं है। योगदान तो वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति किसी सम्पूर्ण कार्य में कोई एक अंग की पूर्ति करे। यहाँ तो प्रायः सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य जैन विद्वानों की लेखनी द्वारा प्रभूत हुआ है। जैनतर कवियों ने तो उसके लालन पालन में थोड़ा ही सहयोग प्रदान किया है। अब देखना हमें यह है कि अपभ्रंश-साहित्य के इन मनीषियों ने अपनी अमर कृतियों द्वारा उन किन-किन साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश किया है, जिनमें आज हिन्दी-साहित्य दिनांदिन समृद्ध होता चला जा रहा है।

अन्य भाषाओं की तरह अपभ्रंश में भी जैन विद्वानों द्वारा पुराण, चरित तथा कथा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वैसे अधिकतर यही विधाएँ अपभ्रंश साहित्य में अधिक पायी जाती हैं, किन्तु रासा, स्तुतिपूजा विषयक साहित्य तथा आध्यात्मिक, नैदानिक और औपदेशिक साहित्य की भी कमी नहीं है।^३ साहित्य के इन रूपों के अन्तर्गत हमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, छरक-काव्य आदि सभी आधुनिक विधाओं का दिग्दर्शन मिल जाता है।

अपभ्रंश-साहित्य में पुराण, चरित एवं कथा साहित्य ही ब्यो अधिक पाया जाता है, इसके भी कारण हैं। अपभ्रंश-साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ जैनाचार्यों ने श्रावकों के अनुरोध से लिखे हैं। उस समय इन विद्वानों का प्रमुख उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा जन-साधारण तक नैतिक भावना का पहुँचाना था; आध्यात्मिक एवं नैतिकता का वातावरण समाज में उत्पन्न करना था। अतः महापुरुषों की जीवनियों एवं उनके आलौकिक रूप से परिचित कराने की दशा में पुराणों का

१. अपभ्रंश प्रकाश पृ० २१, २२।

२. अपभ्रंश साहित्य, कोछड़।

३. अनेकान्त फाह्ल, वर्ष ११, किरण ७।

प्रणयन हुआ। चरित-ग्रन्थ विशेष-पुरुषों के आचरणों से शिक्षा ग्रहण करने-कराने के उद्देश्य से निमित्त हुए एवं कथा-साहित्य वर्तमान जीवन में आनन्द एवं मनोरंजन की व्यापकता लाने के अर्थ सृजित हुआ, जिससे सहज ही में जन-साधारण अनेक शिक्षाएँ भी ग्रहण करता रहा। कथा के माध्यम को अपनाने में जनाचार्यों की मनोवैज्ञानिकता तो प्रगट होती ही है, साथ ही वे कुशल-उपदेशक भी कम सिद्ध नहीं होते। इस तरह अपभ्रंश-साहित्य में पुराण, चरित एवं कथा-साहित्य की बहुलता स्वाभाविक है।

पुराणग्रन्थ :

अपभ्रंश-साहित्य में पुराण-ग्रन्थों का अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व है। प्रायः पुराण-ग्रन्थों में जैन कवियों ने त्रैलोक्य-शलाका पुरुषों के चरित वर्णित किये हैं। कहीं-कहीं पुराण-ग्रन्थों की कथावस्तु में कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश-पुराणग्रन्थों में २४ तीर्थंकरों के चरितों की अधिकता दिखायी देती है। तीर्थंकरों के सम्पूर्ण जीवन की भाँकी इन पुराणों में मिलती है, किन्तु कहीं-कहीं किसी एक पक्ष का उद्घाटनमात्र भी प्राप्त होता है।

अपभ्रंश-साहित्य के पुराण-ग्रन्थों का वर्गीकरण दो तरह से किया जा सकता है। प्रथम वे पुराण-ग्रन्थ है, जिनमें २४ तीर्थंकरों का वर्णन है। द्वितीय वे कृतियाँ हैं, जिनमें तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य महापुरुषों की जीवितियों का उल्लेख है। इस कोटि में महाकविचवलकृत हरिवंशपुराण, पुष्पदन्तकृत महापुराण, श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण, रङ्गकृत पद्मपुराण, यशःकीर्तिकृत पाण्डव-पुराण एवं हरिवंशपुराण तथा पद्मकीर्तिकृत पार्श्वपुराण ये अमर कृतियाँ आती हैं। प्रथम कोटि के पुराण-साहित्य में अभी तक निम्न तीर्थंकर-चरितों का उल्लेख मिलता है।

(१) पासणाहचरित (पद्मकीर्ति), (२) पासणाहचरित (श्रीधर), (३) शोमिणाहचरित (हरिभद्र), (४) पद्मवचरित (स्वयम्भू), (५) पासणाहचरित (असवाल), (६) वड्डमाणककु (जयमित्रहल), (७) सम्मदगाहचरित (रङ्ग), (८) वड्डमाणकहा (नरसेन), (९) शोमिणाहचरित (लक्ष्मण), (१०) चंदणहचरित (यशःकीर्ति) तथा (११) सांतिनाहचरित (महीचन्द्र)।

इस तरह कुल मिलाकर करीब १८-२० ग्रन्थ पुराण-साहित्य की निधि कहे जा सकते हैं। हो सकता है, यह संख्या तब और वृद्धि को प्राप्त हो, जब किसी परिश्रमी एवं विद्वान व्यक्ति का सर्वस्व जैन ग्रन्थभण्डारों के अन्वेषण में अर्पित हो।

चरित-ग्रन्थ :

अपभ्रंश चरित-ग्रन्थों में अधिकतर तत्कालीन प्रसिद्ध महापुरुषों का चरित्र-वर्णन मिलता है। प्रायः ये ग्रन्थ धर्म के आचरण से आवृत हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि जैन कवि लेखक के साथ-साथ उपदेशक अधिक थे। अतः उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा ही धार्मिक एवं नैतिक भावना को जन-साधारण तक अधिक पहुँचाया है। अनेक चरित ग्रन्थों में आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। लगता है जैन कवि उपकार को भूलने वाले नहीं थे। प्रायः सभी चरित-काव्यों में आश्चर्यस्व एवं चमत्कार बहुलता से दिखायी देता है। वर्णन तो इतना रोचक है कि यदि इन चरितकाव्यों की पद्यावद्ध उपन्यास कहा जाय तो कोई ग्रन्थुकि न होगी। यदि अपभ्रंश साहित्य-सृजन के समय गद्य का प्रचार होता तो इसमें कोई शक नहीं उपन्यास-साहित्य भी अपभ्रंश साहित्य की अपनी निधि होता।

अभी तक निम्न चरित-ग्रन्थों का उल्लेख अपभ्रंश-साहित्य में मिला है। इनमें से कुछ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, शेष प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

(१) जमहरचरित, (२) रायकुमारचरित (पुण्ड्रदन्त), (३) जम्बूस्वामिचरित (वीर), (४) सुन्दरसणचरित (नयनंदि), (५) पउमसिरिचरित (घाहिल), (६) करकंदुचरित (मुनिकन-कामर), (७) सुकमालचरित (श्रीधर), (८) सुलोचनाचरित (देवसेन), (९) श्रेणिकचरित्र (जयमित्रहल), (१०) श्रीपालचरित्र (११) ऐमियाहचरित (दामोदर), (१२) सणकुमारचरित (हरिभद्र), (१३) पञ्चुण्णचरित (सिंह), (१४) जिनदत्तचरित (लक्ष्मण), (१५) बाहुवलचरित (धनपाल), (१६) मुकोसलचरित, (१७) धनकुमारचरित, (१८) श्रीपाल चरित (रङ्गू), (१९) सिरिपालचरित, (२०) रायकुमारचरित (नरसेन), (२१) नागकुमारचरित, (२२) धमरसेनचरित (माणिक्यराज), (२३) ससिलेहाचरित, (२४) मृगांक्लेहाचरित (भगवतीदाम), (२५) मयणपराजय (हरिदेव), (२६) मोहराजविजय आदि।

कथा-ग्रन्थ :

कथा-साहित्य जैन-साहित्य का विशेष अंग रहा है। यह परम्परा अपभ्रंश में भी पूर्ण रूप से निबाही गयी है। जैन कथाकारों का उद्देश्य अपने धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इसके लिए उन्होंने कथा के माध्यम को ही अपनाया। क्योंकि जन-साधारण तक अपनी बात पहुँचाने का सबसे सुगम और सहज माध्यम कथा और कहानी ही है। कथा-संग्रहों के अवलोकन एवं मनन से प्रतीत होता है, वस्तुतः इन कथाकारों ने जन-साधारण के नैतिक एवं सदाचारमय जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने में कोई कसर नहीं रखी। अपभ्रंश के सभी कथा-ग्रन्थों में प्रायः हमें व्रतों का अनुष्ठान, आचरण करने वाले श्रावकों का जीवन-परिचय, व्रतों का स्वरूप, विधान और फल-प्राप्ति के रोचक वर्णन मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य में जैन कवियों द्वारा रचित निम्न कथा-संग्रहों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से कुछ ही अनुपलब्ध हैं। इन कथा-संग्रहों में ५० से लेकर २०० एवं ३६० कथाओं तक का संग्रह एक-एक कथा-ग्रन्थ में मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कम से-कम इन कथाकारों की लेखनी से हजार-दोहजार कथाएँ प्रसृत हुई हैं।

(१) कथाकोश (मुनिश्रीचन्द), (२) भविष्यत्कथा (धनपाल), (३) पुरन्दरविहारकथा (धमरकीर्ति), (४) चन्दणछट्टीकथा (कवि लक्ष्मण), (५) गिण्जकरपंचमोविहारकथा (भट्टारक विनयचन्द्र), (६) जिनरत्ति कथा, (७) रविवत्कथा (यशःकीर्ति) (८) अण्णयमीकथा (९) पुण्णस्सवकथा (रङ्गू), (१०) अण्णयमीकथा (हरिचन्द), (११) सिद्धचक्रकथा (नरसेनदेव), (१२-२६) भट्टारक गुणभद्रकथा अण्णत्तवयकथा आदि १५ कथाएँ, (१३) सोलवईविहारकथा (विमलकीर्ति), (२८) सुयंघदसमीकथा (देवदत्त), (२९) रविवत्कथा, (३०) अण्णत्तवयकथा (मुनि नेमिचन्द्र) एवं (३१) तिदुहसत्तमीकथा (मुनि बालचन्द) आदि।

फुटकर साहित्य :

पुराण, चरित एवं कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य में जैन विद्वानों द्वारा रचित अनेक फुटकर ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इनको अपनी महत्ता भी कम नहीं है। इन ग्रन्थों में किसी

एक पक्ष को लेकर धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं का चित्रण किया गया है। अनेक ग्रन्थ नीति-शास्त्र भी कहे जा सकते हैं। ये सब स्वतन्त्र रचनाएँ हैं, जिनमें अधिकतर संसार की अनित्यता को लेकर उपदेश दिये गये हैं। फुटकर साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं :—

(१) परमात्मप्रकाश, (२) योगसार (योगीन्द्र), (३) पाहुड़दोहा (मुनि रामसिंह), (४) वैराग्यसार (सुप्रभाचार्य), (५) दोहापाहुड़ (मुनि महचन्द्र), (६) आनन्दानन्दस्तोत्र (आनन्द), (७) साव-यधम्मदोहा (देवसेन), (८) कल्याणकवर्णन (मनसुख), (९) कालस्वरूपकुलक (जिनदत्तसूरि), (१०) भावनासंधिप्रकरण (जयदेवमुनि), (११) रोषवर्णन (गोयम), (१२) संयममंजरी (महेश्वरसूरि), (१३) सुभाषितरत्नसार, (१४) षट्कर्मोपदेश (अमरकीर्ति), (१५) चूतड़ी (विनयचन्द्रमुनि) आदि।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य में हमें एक प्रकार के और कुछ ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनकी विधा अपभ्रंश-साहित्य से ही प्रसूत हुई है। वे हैं—रासाग्रन्थ। (१) उपदेशरसायनरास, (२) नेमिरास, (३) अन्तरंगरास, (४) जम्बूस्वामोरास, (५) समराम तथा (६) रेवतगिरिरास जैन-कवियों द्वारा प्रणीत रामामाहित्य की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि अपभ्रंश-साहित्य में उन सभी साहित्यिक विधाओं का समावेश है, जिनमें आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराण-ग्रन्थों को महाकाव्य, चरित-ग्रन्थों को प्रबन्ध-काव्य, कथाग्रन्थों को खण्ड-काव्य तथा फुटकरसाहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। इन विधाओं के लक्षण एवं समस्त विशेष-ताएँ उपरोक्त वर्गीकरण के ग्रन्थों में परिलक्षित होती हैं। अतः इसमें दो मत नहीं हो सकते कि अपभ्रंश-साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।

अपभ्रंश भाषा जन-साधारण की भाषा होने से वैसे ही अधिक प्रिय थी, किन्तु कवियों ने विविध छन्दों द्वारा जो इसके साहित्य में सरसता और मधुरता का समावेश किया है, उसके कारण आज भी अपभ्रंश साहित्य पढ़ते समय मन झूम उठता है। रड्डा, डक्का, चौपई, पदडि़या, दोहा, सोरठा, घत्ता, दुबई, मंसरिणि, भुजंगप्रयात्, दोषक और गाहा वे प्रमुख छन्द हैं, जिनमें प्रायः सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य रचा गया है। इससे सहज अनुमानित है, जैन विद्वानों का छन्द-शास्त्र में भी कितना अधिकार था।

अपभ्रंश-साहित्य से सम्बन्धित जितनी घविक सामग्री हमें प्राप्त होती है, उतनी ही कम मात्रा में अपभ्रंश-साहित्यकारों के जीवन-परिचय उपलब्ध हैं। बहुत ही कम कवियों ने अपनी कृतियों के साथ जीवन-वृत्तांत का उल्लेख किया है। फिर भी कुछ प्रमुख कवियों का जीवनचरित जानने की हम कोशिश करेंगे। सभी का जीवन चरित जानने में अभी बहुत समय लगेगा।

(१) चतुर्मुख—कवि चतुर्मुख अपने समय के प्रमुख एवं प्रसिद्ध कवि थे। इनका समय ८ वीं सदी माना जाता है। इनकी तीन कृतियों—हरिवंशपुराण, पद्मचरित और पंचमीचरित का उल्लेख है, किन्तु इनमें से एक भी उपलब्ध नहीं है।

(२) महाकवि स्वयम्भू—अपभ्रंशसाहित्य के जन्मदाता के रूप में इनका नाम लिया जाता है। इनके पिता का नाम मास्तदेव, माता पद्मिनी थीं। ये ९ वीं सदी के प्रतिष्ठित विद्वान थे। इनकी तीन पत्नियाँ थी। अन्तिम पत्नी सुमन्वा के पुत्र का नाम त्रिभुवन स्वयम्भू था, जिसने

स्वयम्भू के पउमचरित नामक ग्रन्थ को पूरा किया था। महाकवि स्वयम्भू के पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें दो अनुपलब्ध हैं।

(३) महाकवि पुष्पदन्त—पुष्पदन्त श्रीकेशव एवं मुग्धा देवी की संस्तान थे। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंशभाषा के महापंडित थे। पुष्पदन्त स्वाभिमानो तथा उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे। ये बड़े ही निस्पृही थे। प्रेम इनके जीवन का प्रमुख अंग था। इनका समय १० वीं सदी का अन्तिम भाग तथा ११ वीं का पूर्वार्ध माना जाता है। इनके तीनों ग्रन्थ—महापुराण, नागकुमारचरित एवं जसहरचरित प्रकाशित हो चुके हैं।

(४) धवल—कवि धवल आचार्य अम्बमेन के शिष्य थे। पिता नाममूर, माता का नाम केसल था। असम और पश्चिमी के उल्लेख के कारण इनका समय १०वीं सदी के लगभग अनुमानित किया जाता है। इनका हरिवंशपुराण अपभ्रंश-साहित्य का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है, जिसमें करीब १८००० श्लोक हैं।

(५) हरिषेण—ये मेवाड़ में स्थित चित्तौड़ के निवासी थे। पिता का नाम गोवर्द्धन, माता गुणवती थी। इनका समय ११४४ (ई०) के करीब माना जाता है। धम्मपरिक्खा आपका प्रमुख ग्रन्थ है।

(६) कवि लक्ष्मण—ये १२वीं सदी के प्रमुख विद्वान् थे। लक्ष्मण की जगह इन्हें लामू कवि के नाम से भी जाना जाता है। ये जैमवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। पिता का नाम माहून था। इनका जिनदत्तचरित प्रमुख ग्रन्थ है।

(७) कहाकवि रङ्गू—ये ग्वालियर के निवासी थे। पिता हरिमह, माता का नाम विजयश्री था। ये श्रीपाल आचार्य के शिष्य थे। इनका समय १४८१ से १५३६ ई० तक माना जाता है। महाकवि रङ्गू, आशु कवि थे। इनकी रचनाओं में ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख अधिक मिलता है। रङ्गू के कुल मिलाकर २३-२४ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। अतः इन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को सबसे अधिक समृद्ध किया है।

इस तरह अपभ्रंश-साहित्य के और भी प्रमुख कवियों का कुछ जीवन-चरित हमें प्राप्त होता है, उन सबका यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं। कुछ कवियों के नाम ही मात्र ज्ञात होते हैं, किन्तु उनकी रचना से उनके व्यक्तित्व का पता चल जाता है। लेकिन कुछ ऐसे कवियों का भी उल्लेख है, जिनके न जीवन-चरित का पता है, न रचनाओं का। फिर भी उन्हें अपभ्रंश-साहित्य के कवि मानने में हमें संकोच नहीं होता। इस तरह कुलमिलाकर करीब ९२-९५ जैन कवियों की लेखनी अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण में बली है।

यह अपभ्रंश साहित्य और साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय है, इस निबन्ध द्वारा अपभ्रंश-साहित्य का भण्डार और महत्व दर्शाने का ही प्रयास किया गया है। इसमें इतने विशाल अपभ्रंश-साहित्य की सम्पूर्ण-सामग्री आ गयी हो, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कुछ बातें चाहते हुए भी विषय-विस्तार के भय से इसमें नहीं आ पायी। अन्त में इतना ही कहना है कि अपभ्रंश-साहित्य के अन्तर्गत करीब १७५ ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें से (१) अगुंगचरित, (२) अगुपेहा, (३) चंदपहचरित, (४) भाणपंडव, (५) पउमचरित, (६) महापुराण, (७) हरिवंशपुराण, (८) वरंगचरित, (९) सांतिगाहपुराण, (१०) स्वयम्भूव्याकरण आदि २५ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

(१) कुवलयमाला (२) करकंडूचरित (३) पउमसिंहरचरित, (४) महापुराण, (५) जसहरचरित, (६) सोहंयुति, (७) पउमचरित, (८) रोमिकुमारचरित, (९) कुमारपालप्रतिबोध, (१०) मदणपराजय आदि २०-२१ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। शेष करीब १३० ग्रन्थ अप्रकाशित रूप में ग्रन्थ-भंडारों में पड़े विद्वान् ग्रन्थेषकों एवं प्रकाशकों की राह देख रहे हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि मध्ययुग का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन बिना अपभ्रंश-साहित्य की प्रकाश में लाये पूर्ण नहीं हो सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि यदि हम चाहते हैं, मध्ययुग की सम्यता, संस्कृति जीवित रहे; अनुपलब्ध-अप्रकाशित अपभ्रंशसाहित्य प्रकाश में आकर हमें एक नवीन दिशादान दे एवं उन अथक परिश्रमी मनीषी-साहित्यकारों की परम्परा अक्षुण्ण रहे, तो ग्रन्थेषण के क्षेत्र में हमें नया कदम उठाना होगा। नये ग्रन्थेषक तैयारकर उन्हें सारी सुविधाएँ जुटानी होंगी। तभी अपभ्रंश-साहित्य का सितारा चमकेगा।



हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों

का

तुलनात्मक अध्ययन

प्रो० शालिग्राम उपाध्याय

[आचार्यप्रवर हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों पर विचार करने वाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ संगृहीत हैं। यहाँ उन्हीं का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।]

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों पर विचार करने वाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ संगृहीत हैं। कई विद्वानों ने अनेक पद्यों के मूल रूपों का पता भी लगाया है। यहाँ उन पद्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जो या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ हेमचन्द्र से पूर्व या उनके बाद प्राप्त होते हैं।

हेमचन्द्र का समय १०८८-११७२ ई० तक माना जाता है। उनसे पूर्व १००० ई० के श्राव-पाम 'पाहुडदोहा' के रचयिता रामसिंह ने पाँच ठेगाने दोहे दिये हैं, जो बहुत कम परिवर्तनों के साथ हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में मिलते हैं।

रामसिंह १. 'सयलु वि कोवि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।

सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं शिम्मल एण ॥" (पाहुड ८८)

[सभी-कोई सिद्धत्व के लिए तडफड़ाता है। पर सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने से ही मिल सकता है।] हेमचन्द्र ने इसमें परिवर्तन किया है—

"साहु वि लोउ तडप्फडइ बड्डत्तणहा तणेण।

वड्डप्पणु परिपाविमिइ हत्थिं मोकलडेण ॥" (८१।३६६।१)

हेमचन्द्र ने 'सर्व' के स्थान पर 'साहु' प्रयोग का यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार उन्होंने पाहुड के 'सयलु' का संशोधन किया है। सिद्धत्तण के स्थान पर 'बड्डत्तण' या 'वड्डप्पणु' रख कर एवं 'चित्तहं शिम्मल एण' की जगह 'हत्थिं मोकलडेण' रख कर धार्मिकता के स्थान पर लौकिकता पर विशेष बल दिया है। वड्डप्पण के निग्न मुक्तहस्त दान का विधान हेमचन्द्र का प्रतिपाद्य है।

रामसिंह का दूसरा दोहा—

२. "छडेविणु गुणुरयणणिहि अग्वथडिहिं विप्पंति।

तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति एण भंति ॥" (पाहुड ०१५१)

[गुणों के रत्नाकर (समुद्र) को छोड़ कर अंश बिकी हुई वस्तुओं की ढेर में फेंके जाते हैं और फिर वहाँ उन का क्या विधान होता है ? वे फूँके जाते हैं, इसमें आन्ति नहीं । अर्थात् जो सत्संगति छोड़ देते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है । हेमचन्द्र ने इसका रूप यों है—

“जे छड्डेविणु रयणनिहि अपप्डे तडि फल्लन्ति ।

तहं संखहं विट्टालु पर फुक्किज्जंत भमन्ति ॥” (हे० ४२२।३)

यहाँ हेमचन्द्र ने ‘छड्डेविणु’ को ‘छड्डेविणु’ तो किया ही, द्वितीय चरण को एकदम बदल दिया है । ‘तहि’ को ‘तहं’ एवं ‘विहारणु’ को ‘विट्टालु’ कर दिया है । इसी प्रकार ‘फुक्किज्जंत ए भन्ति’ की जगह ‘फुक्किज्जंत भमन्ति’ कर के हेमचन्द्र ने पाहुडदोहे में पर्याप्त परिवर्तन किया है । वास्तव में यह उदाहरण ‘विट्टालु’ के लिए है जो अस्पृश्य-संसर्ग के लिए अपभ्रंश में प्रयुक्त होता है ।

३. रामसिंह का तीसरा दोहा है—

“अखइ गिरामइ परमगइ अजवि लउ ए लहंति ।

भग्गी मणहण भंतडी तिम दिवहडा गणंति ॥” (पाहुड० १६६)

[असय, निरामय परमगति में अभी तक लव को प्राप्त नहीं होते और मन की भांति मिटो नहीं, इसी प्रकार दिन गिनने है । अर्थात् आत्मा में लीन हुए बिना सच्चा आत्मकल्याण नहीं हो सकता]

हेमचन्द्र के यहाँ इसे निम्नलिखित रूप में देखते हैं—

“प्राइव भुणहं वि भंतडी तें मणिअडा गणंति ।

अखइ निरामइ परम पइ अजवि लउ न लहंति ॥” (४१४।२)

“प्राइव’ के प्रयोग के लिए हेमचन्द्र ने यह उदाहरण दिया है । अतः हेमचन्द्र ने ‘प्राइव’ तो जोड़ ही दिया है । इसके अतिरिक्त मणियों की गणना करने की बात करके ‘दिवहडा’ की गणना की अपेक्षा दोहे को अधिक सरस और उत्कृष्ट बना दिया है ।

४. रामसिंह का चौथा दोहा है—

“जिम लरेणु बिलिजइ पाणियहं तिम जइ चित्तु बिलिज ।

समरसि (०स) हूवइ (०उ) जीवडा काई समाहि करिज ॥” (पाहुड० १७६)

[जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है वैसे यदि चित्त विलीन हो गया, तो जीव समरस हो गया और समाधि में क्या किया जाता है ।]

इसी प्रकार का एक दोहा बौद्ध-सिद्ध-कवि कण्हपा (१०वीं शती ई०) के दोहा-कोश में मिलता है—

“जिम लोणु बिलिजइ पाणिएहि, तिम चरणो लइ चित्त ।

समरस जाई तबखणे, जइ पुणु ते समणित्त ॥”

जैसे पानी से मिलकर लवण समरस हो जाता है उसी प्रकार ग्रहीणी चित्त से मिले तो समरसता हो । हेमचन्द्र ने लिखा है—

“लोणु बिलिअइ पाणिणैणु अरि खल मेह म गज्जु ।

वाल्लि गलइ सु भुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥” (४१८।५)

हेमचन्द्र ने पाहुड दोहे का भावात्मक संशोधन भी किया है। समाधि संबंधी समस्याओं का दार्शनिकता से ऊपर उठा कर अपने दोहे के द्वारा उन्होंने रतिवृत्ति को जागरित करने का प्रयत्न किया है। अतः उनका दोहा लौकिक शृंगारिक हो गया है।

५. रामसिंह का पाँचवा दोहा है—

जइ इकहि पावीसि पय अंकव कोडि करीमु ।

एणं धंगुलि पय पयइणहं जिम सव्वंगय सीमु ॥ (पाहुड ० : ७७)

[यदि एक ही पद को पा गया, तो अमृत कौतुक कहेंगा, जैसे उँगली, पद प्रकट करने से अवश्य शेष अंग प्रकट हो जाते हैं ।]

इसका परिवर्तित रूप हेमचन्द्र के दोहे में यों है—

“जइ केवई पावीसु पिउ अकिआ कुहु करीमु ।

पाणिउ गुवइ सरावि जिवं सव्वज्जे पइसीमु ॥” (३६६।४)

इस दोहे में भी हेमचन्द्र ने शृङ्गारिकता लाकर इसे सरस बना दिया है। इस तरह हम देखते हैं कि हेमचन्द्र ने उपर्युक्त पाहुड-दोहों को संशोधित एवं परिष्कृत किया है। उन्हें दार्शनिकता या धार्मिकता से उठाकर साहित्यिक बना दिया है। भाषा की दृष्टि से भी हेमचन्द्र ने उपर्युक्त दोहों को परिष्कृत किया है। हेमचन्द्र का अपभ्रंश Standerd (प्रतिमित) अपभ्रंश है। उपर्युक्त पाहुड दोहों की चर्चा डॉ० ह्रीरालाल जैन ने पाहुडदोहा की भूमिका में की है।

एक दूसरे कवि है जैन मुनि जोइन्दु (योगीन्द्र)। इनका समय भी १००० ई० के आसपास माना जाता है। इनके द्वारा रचित ‘परमपूजायाम’ (परमात्मप्रकाश) में भी तीन ऐसे दोहे मिलते हैं जिनका सम्बन्ध हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यां से जोड़ा जा सकता है। प्रथम दोहा है—

१. पंचहं एयमकु वसि करहु जेणु होन्ति वसि अण्ण ।

मूल विण्णुइं तरवरहं अवसइं सुकहिं पण्णइं ॥ (२७।१)

[पाँचों के नायक को वश में करो, जिसमें अन्य सभी वश में होंगे हैं। तरवर के विनष्ट होने पर पते अवश्य ही सूख जाते हैं ।]

इसमें तुलनीय हेमचन्द्र का पद्य है—

“जिन्निन्दउ नायगु वसि करहु जमु अभिन्नइं अन्नइं ।

मूलि विण्णुइं तुविण्णिहे अवसैं सुकहिं पण्णइं ॥” (४२७।१)

हेमचन्द्र ने ‘अवसैं’ के प्रयोग के लिए यह उदाहरण दिया है। जोइन्दु के यहाँ यह ‘अवसइं’ है। इन्द्रियों और पणों की नपुंसकता ने यहाँ ‘अभिन्नइं, अन्नइं, पण्णइं’ कराकर दोहे का रूप बिगाड़ दिया है। हेमचन्द्र ने छन्द की दृष्टि से इसमें परिवर्तन कर दिया है। संभव है कई स्वरों को गटकते हुए बोर्ड इसे दोहे के समान भी पढ़े। जोइन्दु का दूसरा दोहा है—

२. “बलि किउ मारुस जम्मडा देखवतहं पर साह ।

जइ उडुअइ तो कुहइ अह डज्जइ तो आह ॥”

[परम-तत्त्व को देखते हुए मनुष्य-जन्म को बलि कर दो अथवा मनुष्य का जन्म जो, देखने में परमोत्कृष्ट लग रहा है, उसकी बलि कर दो; क्योंकि यदि इसे (पानी या मिट्टी में) रखा जाय तो सड़ जाता है और यदि जलाया जाय तो छार हो जाता है।] यहाँ मनुष्य-शरीर को नश्वरता पर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिससे परम तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। हेमचन्द्र का निम्नलिखित दोहा तुलनीय है—

“आयहो दंड कलेबरहो जं बाहिउ तं सार ।

जइ अट्टकमइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छार ॥” (३६५।३)

हेमचन्द्र ने यहाँ पूर्वार्द्ध परिवर्तित कर दिया है। मानव-शरीर को नश्वरता नहीं, प्रत्युत उसकी क्षणिकता में भी सारतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

परमप्यपयास का तीसरा दोहा है—

३— “संता विसय जु परिहरइ बलि किजइ हउं तामु ।

सो दइवेण जि मुण्डिअउ सीमु खडिअउ जामु ॥” (२७०)

[विषयो के रहते हुए जो उनका परिहार करता है उसको मैं बलि करता हूँ (जाता हूँ) जिसका शिर खडिअ है—जो खल्वाट है अर्थात् जो गंजा है वह तो दैव द्वारा ही मुंडित किया गया है। ‘विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।’ के द्वारा कालिदास ने उन्हे धीर कहा है। जोइंदु का उपर्युक्त दोहा हेमचन्द्र के निम्नलिखित दोहे से तुलनीय है—

“सन्ता भोग जु परिहरइ तमु कन्तहों बलि कीमु ।

तमु दइवेण वि मुण्डिअउ जमु खल्लिहउउं सीमु ॥” (३८९।१)

यहाँ ‘विसय’ का ‘भोग’ और ‘खडिअउ’ का ‘खल्लिहउउं’ तो हो ही गया है, बीच में ‘कन्त’ का भी आगमन हो गया है।

इससे भाव-साम्यबाला एक छन्द दशवैकालिक में द्रष्टव्य है—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ मयणणि य ।

अच्छन्द जे न मुज्जन्ति न से बाइत्ति वुच्चइ ॥

जे य कन्ते पिये भोए जडे विप्पिट्ठि कुच्चइ ।

साहीयो चयइ भोए से ह बाइत्ति वुच्चइ ॥—(दशवै० ११।२, ३)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों के संबंध में जर्मन विद्वान रिचार्ड पिशेल का कथन है कि “उन्हें (हेमचन्द्र के दोहों को) देखकर कुछ ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसे संग्रह से लिए गए हैं जो सतसई के ढंग का है, जैसा कि त्साखाटिआए (गोएटिंगेसे गेलेर्ते आन्साइयेन १८८४ पे ३०६) ने बताया है। हेमचन्द्र के पद्य ४।३५७।२ और ३ सरस्वतीकंठाभरण के पेज ७६ में मिलते हैं जहाँ उनकी सविस्तर व्याख्या दी गई है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ४।३५३; चंड २.२७ पेज ४७ में मिलता है। हेमचन्द्र ४।४२०।५ सरस्वतीकंठाभरण के ९८ में मिलता है और ४।३६७.५ शुकसमिति के पेज १६० में आया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पिशेल ने हेमचन्द्र के ४।३५७, २ और ३ जिन दो छन्दों की चर्चा की है वे वस्तुतः दो छन्द नहीं अपितु एक ही छन्द है और वह भोजराज (१०५७ ई०) के सरस्वती कंठाभरण (काव्यमाला ९४ द्वितीयावृत्ति १६३४ ई०) के प्रकीर्ण-पद्यमा के उदाहरण में दूसरे परिच्छेद के ७६ वें उदाहरण के रूप में सचमुच सुदीर्घ व्याख्या के साथ उपलब्ध है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. “एकहिं अछिहिं सावगु अण्हिं भट्टव
माहउ महिअल सत्थरि गण्डत्थल सरउ ।
अङ्गहिं गिह्म सुहच्छिइ तिलवण मग्गसिर
सुद्धिहिं सुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिर ॥” (२।७६)

हेमचन्द्र का परिवर्तन है—एकहिं अक्खिहिं गण्डत्थलें, गिह्म, सुहच्छी, तिलवणि, एवं ‘तहे मुद्धहे मुहपङ्कइ आवासिउ सिसिर ।’

यहाँ हम देखते हैं कि हेमचन्द्र का ३५७।२ जो संभवतः रासक या आभाणक छन्द है, कुछ परिवर्तनों के साथ सरस्वतीकंठाभरण में प्राप्त है। ‘तहे मुद्धहे मुहपङ्कइ’ का प्रमुख परिवर्तन हेमचन्द्र में अधिक सरस है। सरस्वतीकंठाभरण में भी यह उदाहरण अन्यत्र से लिया प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक दूसरा स्थल, जिसकी चर्चा पिशेलने की है, निम्नलिखित परिवर्तित रूप में विरोधमूलक असंगति के उदाहरण के रूप में यों प्राप्त होता है—

२. “सा उपडो गोडुउहि, णोक्खी कावि विसगण्ठि ।
भिडिय पचेत्तिउ सो मरइ, जस्स ए लग्गइ कण्ठि ॥”

सरस्वतीकं० (३।६२)

हेमचन्द्र के यहाँ यह है—

“साव सलोणी गोरडी नवरवी कवि विसगण्ठि ।

भट्ट पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥ (४२०।३)

हेमचन्द्र ने दोहे का स्वरूप अधुण्ण रखा है। ‘साव सलोणी गोरडी’ और ‘भट्ट पच्चलिउ’ आदि परिवर्तनों के द्वारा रसात्मकता भी पर्याप्त आ गई है। हेमचन्द्र के यहाँ यह उदाहरण ‘प्रत्युत’ के स्थान पर ‘पच्चलिउ’ आदेश का है किन्तु यह ‘पच्चलिउ’ सरस्वतीकंठाभरण वाले उदाहरण में ‘पचेत्तिउ’ है।

इसी प्रकार पिशेल ने शुकसप्तति (समय अभी अज्ञात है) के पृ० १६७ वाले जिस उद्धरण की चर्चा की है, जिसे हेमचन्द्र के ३६७।५ से तुलनीय बताया है वह शुकसप्तति की ५७ वी कथा में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

“जइ ससिणेही तउ मुई, जइ जीवइ ससिणेह ।

सुहिअ पराअहि गग्गधर कि गच्छसि खल मेह ॥” (श्लोक २५७)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका रूप है—

“जइ ससणेही तो मुइअ, अह जीवइ निन्नेह ।

विहिं पवारोहि गइअ धर कि गज्जहि खल मेह ॥” (३६७।४)

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने इसे भाषा, छन्द और साहित्यिकता तीनों दृष्टियों से सुव्यवस्थित रखा है।

पिशेल ने चंड (जिसे हेमचन्द्र से पूर्व का व्याकरण माना जाता है) के जिस उद्धरण की चर्चा की है, मैं समझता हूँ रेवतीकान्त भट्टाचार्य द्वारा संपादित प्राकृतलक्षण के १।१४ वां सूत्र के रूप में वह प्राप्त है—

“कमलई मल्लवि अलि उलई, करि गण्डाई महंति।

अमुलह एत्थ ए जाहं भलि, ते एवि दूरं गयंति ॥”

यह दोहा हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

‘कमलई मेल्लवि अलि उलई करि गण्डाई महन्ति।

अमुलह मेच्छण जाहं भलि, ते एवि दूर गयन्ति ॥’ (३५३।१)

हेमचन्द्र के यहाँ ‘मल्लवि’ का ‘मेल्लवि’ ‘अमुलह एत्थ ए’ का ‘अमुलह मेच्छण’ और ‘दूरं’ का ‘दूर’ हो गया है। फिर भी चंड के दोहे का विशेष संशोधन नहीं हुआ, वह करीब-करीब वैसा ही है।

हेमचन्द्र के ४।४४७ सूत्र के उदाहरण में जो ‘शदमागुशमंशभालके’ आदि गद्यवत् ग्रंथ प्राप्त होता है, वह भट्टनारायण (७२५ ई०) कृत वेणीसंहार के तीसरे प्रंक से लिया गया है। यह एक श्लोक है जो सरस्वतीकंठाभरण में भी उद्धृत है। वेणीसंहार में वह द्रष्टव्य है—

शद मागुशमंशभालके कुम्भशहृश वशाहि शंचिदे।

अगिशां च पिग्रामि शोणिदे वलिगणदे शमले हुवीअदि ॥

हेमचन्द्र ने ‘मागुश’ को ‘मागुश’ और ‘शहृश’ को ‘शहृल’, ‘वशाहि’ को ‘वशाहि’ कर दिया है। जो मागधीकी प्रकृति के प्रतिकूल है। संभवतः यह पाठभेद का प्रभाव है। हेमचन्द्र जैसा प्राकृत का प्रकृत आचार्य भाषा-संबंधी ऐसी मोटी भूल नहीं कर सकता। अतः उनके व्याकरण के किसी सुन्दर प्रामाणिक रूप के न मिलने के कारण ऐसी स्थिति अनेकन उत्पन्न हो जाती है।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत ४४८।१ ‘हिठ्टु टिथ’ आदि गाथा ‘वाकपतिराज’ (७३६ ई०) कृत ‘गडडवहो’ के मंगलाचरण से लिया गया है। वहाँ ‘गिवारणाय’ और ‘दुरुक्खया’ के स्थान पर क्रमशः ‘गिवारणाय’ और ‘दुरुक्खया’ यश्रुति की अपेक्षा उद्धृत स्वर मिलते हैं। यथा—

“हिठ्टु टिथ मूर गिवारणायं छत्तं ग्रहो इव वहन्ती।

जअइ ससेसा वाराह-सास-दुरुक्खया पुहवी ॥” (मंगलाच० १५)

श्रीचन्द्रशर्मा गुलेरी ने बताया है कि हेमचन्द्र (४०९।१) ने ‘मुगुडा हराविघ्ना’ वाली गाथा राजशेखर सूरि (१३०० ई०) कृत चतुर्विंशतिप्रबन्धगत श्रावक-प्रबन्ध में भी मिलती है। इसी प्रकार उन्होंने ‘पुत्तं जाणं कवगु मुगु’ (हेमच० ३६५।६) से परिवर्तित ‘बेटाजायां कवण मुगु’ की चर्चा की है। इस दोहे के साथ ही ‘एइति छोडा’ ‘एइ बलि’ हेमचन्द्र (३३०।४) दोहे को भी कुछ परिवर्तनों के साथ ठाकुर भूरिसिंह जी शैलावत के विविध-संग्रह में हेमचन्द्र के नाम से प्राप्त होने की बात उन्होंने की है। (द्रष्टव्य ‘पुरानी हिंदी’ पृ० १६ और १५३)

हेमचन्द्र ४१६।३ वाला दोहा—

“जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विघाएँ तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्हेंहिँ सुहय जणस्सु ॥”

अद्दहमाण (राहुलजी के अनुसार पमय १०१० ई०) कृत सदेशरासक में

“जसुपवसन्त ए पवसिया मुइअ वियोइण जासु ।
लज्जिज्जउ संदेसउड दिन्ति पहिय पियामु ॥” (सं० ७०)

रूप में प्राप्त होता है। सदेशरासक की सरलता देखकर लगता है या तो यह दोहा लोक से अथवा हेमचन्द्र से लेकर प्रकरण के अनुकूल जोड़ गया है अथवा प्रक्षिप्त है। कुछ विद्वानों ने अद्दहमाण का समय हेमचन्द्र के बाद भी बताया है। इस आधार पर संभव है अद्दहमाण ने ही इसे लिया हो और ‘जउ’ को जसु, ‘तस्सु’ के स्थान पर ‘जास,’ और ‘जणस्सु’ के स्थान पर ‘पियामु’ कर दिया हो।

पं० गुलेरीजी ने ‘पुरानी हिंदी’ में मोमप्रभ मूरि (११९५ ई०) की कुछ रचनाओं को उद्धृत किया है, जिनमें कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों में किञ्चित् परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं। यथा :—

१—माणि पणट्टइ जइ ए तरणु तो देसडा चइज ।
मा दुजन कर पल्लविहिँ दंमिजंतु भमिज ॥ (पु० हिं पृ० ८१)

हेमचन्द्र :—माणि पणट्टइ जइ न तरणु तो देसडा चइज ।
मा दुजण कर पल्लवैहिँ दंमिजन्तु भमिज ॥ (४१८।४)

परिवर्तन नहीं के बराबर।

२—“मई जाणियउं पिय विरहियह कविधर होइ विघालि ।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयखयकालि ॥” (पु० हिं पृ० ८८)

हेमचन्द्र के यहाँ—

मई जाणिउं पिअविरहिअहँ कविधर होइ विघालि ।
गुवर मियङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयखयकालि ॥ (३७७।१)

हेमचन्द्र का ‘गुवर’, ‘तिह’, ‘जिह’ और ‘खयकालि’ मोमप्रभ के यहाँ ‘नवरि’, ‘तह’, ‘जह’ और खयकालि हो गया है। कोई विवेक परिवर्तन नहीं है।

३—“मरगयवन्नह पियह उरि पिय चंपय यह देह । (समस्या)
कसवट्टह दिन्निय सहइ नाइ मुवन्नह-रेह ॥” (पूर्ति)
(पु० हिं पृ० ८९)

हेमचन्द्र ३३०।१ में यह तुलनीय है। हेमचन्द्र ने लिखा है—

“ढोला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
गाइ मुवण्ण^२ह कसवट्टइ दिण्णी ॥” (हे० च० ३३०।१)

मोमप्रभ और हेमचन्द्र के छन्द में भी अन्तर है।

४— “बूडउ बुग्री होइसइ, मुद्धि कबोलि निहितु । (समस्या)
सासानलणु फलकिप्रउ, बाह सलिल संसितु ॥” (पूर्ति)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका निम्नलिखित रूप द्रष्टव्य है—

“बूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कबोलि निहितु ।
सासानलजाल-फलकिप्रउ बाह-सलिल संसितु ॥” (हे० चा० ३६५।२)

हेमचन्द्र की अपेक्षा सोमप्रभ के यहाँ दोहा का स्वरूप सुरक्षित है । यह उदाहरण ‘फलक’ का प्रयोग दिखाने के लिए दिया गया है । सोमप्रभ और हेमचन्द्र दोनों के यहाँ ‘फलकिप्रउ’ है । पर हेमचन्द्र के यहाँ ‘बूडुल्लउ’, ‘निहितु’ और ‘संसितु’ है और सोमप्रभ के यहाँ ‘बूडउ’, निहत्तु और ‘संसितु’ ।

५— ‘अम्हे घोडा रिउ बहुय इउ कायर चित्ति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करन्ति ॥ (पु० हि० पृ० ९२)

हेमचन्द्र के यहाँ—

‘अम्हे घोवा रिउ बहुभ, कायर एम्ब भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥ (३७६।१)

हेमचन्द्र के यहाँ ‘घोवा’ सोमप्रभ के यहाँ ‘घोडा’; हेमचन्द्र के यहाँ ‘बहुभ’ उद्धृत स्वरयुक्त सोमप्रभ के यहाँ ‘बहुय’ यश्चतियुक्त; हेमचन्द्र के यहाँ ‘कायर एम्ब भणन्ति’ है और सोमप्रभ के यहाँ ‘इउ कायर चित्ति’, हेमचन्द्र के यहाँ ‘कइ जण जोण्ह करन्ति’ सोमप्रभ के यहाँ ‘कइ उज्जोउ करन्ति ।’ इस प्रकार इस दोहे में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है । उपर्युक्त उदाहरणों का देखने से हेमचन्द्र के छन्द, जिनमें कुछ छन्दों में दोहाका लक्षण घटित नहीं होता, स्पष्ट हो जाते हैं । हेमचन्द्र के दोहों की स्पष्टता के लिए सोमप्रभ के दोहों का तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण है ।

हेमचन्द्र के ३५२।१—“बायमु उड्डावन्ति अण पिड दिठुउ सहस ति ।

अद्धा बन्या महिहि गय अद्धा फुट्ट तड ति ।”

मँजे टण राजस्थानो रूप की चर्चा पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने यों की है—

“काग उडावणु जावन्ती पिय दांठो महसति ।

आधी चूड़ि काक गल आधी टूट तडिति ॥” (पु० हि० पृ० १५)

हेमचन्द्रका—‘विण्णिअ-आरउ जइवि पिउ तो वित आणहि अज्जु ।

अग्गिणु ढड्डा जइ वि घर तो तँ अग्गिं कज्जु ॥ (३४३।२)

प्राकृत पैगलम् की निम्नलिखित गाथा से तुलनीय है—

जेण किण्णु रा जिविज्ज अणुण्णिज्ज सां कम्मावराहो वि ।

पत्ते वि गयण ढाहे भण कस्स न वल्लहो अग्गी ॥ (१।५.५)

हेमचन्द्र के दोहे से भाव-साम्य वाला एक छन्द सरस्वतीकंठाभरण में भी प्राप्त होता है—

“जो जस्स हिअअ दइअो दुक्खं दन्तो वि सो मुहं देइ ।

दहअ णह इहआणं वि बड्ढोइ त्थणआणं रोमअो ॥ (४।१६।१)

[जो जिसके हृदय का दयित है वह दुःख देता हुआ भी सुख देता है । प्रिय के नख से क्षत स्तनों पर रोमाञ्च बढ़ता है ।

सूरदास के संबंध में प्रसिद्ध दोहा—

“बाह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोहि ।
हिरदय से जौ जाहूँगे मरद बदीमो तोहि ॥” श्री हेमचन्द्र के
“बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवैंद को दोषु ।
हिषयछिउ जइ नीमरहि जाणऊँ मुख मरोसु ॥ (४३९।३)

नैपद्योद-चरित के एक श्लोक में नल के शिर पर स्थिति चिकुर-ममूह के दो भागों में बँटे होने की चर्चा है जिसमें श्री हर्ष ने उसके दो दोषों की उत्प्रेक्षा की है । वहाँ एक प्रकार से नल की प्रशंसा ही की गई है—

“विभज्य मेरुर्न यदधिसात्कृतो न सिन्धुहस्तर्गजलव्ययैर्मरुः ।

अमानि तत्तेन निजायशो युगं द्विकालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥” (१।१६)

अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों में भी एक नायिका का भाव अपने पति के संबंध में कुछ इसी प्रकार का है । वह अपने पति के दो दोषों की चर्चा करती है—

महु कन्तहो वे दोसडा हँसि म भइखहि आलु ।

देनहो हउं पर उत्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥ (३७९।१)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहों में प्रकृति-निरीक्षण संबंधी निम्नलिखित

दोहा “रवि-घट्यमणि समाजलेगु कण्ठि विहृष्यु न क्षिप्सु ।

चक्कें लण्डु मुणालिअहे नउ जीवगलु दिप्सु ॥” (४४४।१)

इससे भाव-साम्यवाला एक श्लोक काव्यप्रकाश में भी मिलता है, जिससे गुनेरीजी ने सुभाषितावली से लिया हुआ बताया है । श्लोक निम्नलिखित है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहबने बद्धानने ताम्पति

क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाङ्गं विलाप्य प्रियायम् ।

चक्राङ्गेन वियोगिना यत्कृतं नास्वादितं नोज्झितं

कण्ठे केवलमालिव विहिता जीवस्य निर्वर्च्छतः ॥

इस तरह देखते हैं कि हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में उद्धृत अनेक पद्य उनके पूर्ववर्ती जोईदु, रामसिंह, भोजराज, चंडभट्टनारायण, वाकपतिराज, अट्टहाग की रचनाओं से सम्बद्ध हैं । शुकसप्तति, सुभाषितावली में मिलनेवाले श्लोक या पद्य भी हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यों में या तो शब्द-परिवर्तन के साथ या उसी भाव में मिलते हैं । प्राकृतपद्मनम्, नैपद्योदचरित आदि ग्रन्थों में भी हेमचन्द्र से भाव-साम्य वाले पद्य हैं । मोमप्रभमूर्ति, राजशेखर मूर्ति की रचनाओं में या अनेक राजस्थानी प्रसिद्ध दोहों के रूप में भी हेमचन्द्र के दोहे दिखाई पड़ते हैं । इसी प्रकार अनेकत्र अनेक छन्द बिखरे होंगे, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए । जिससे उन दोहों या छन्दों की भाषा-सम्बन्धी और भाव-सम्बन्धी विशेषताओं का गम्भीर निरूपण किया जा सके ।

जैन-साहित्य में ग्राम-चेतना

श्रीरामनाथ पाठक 'प्रणयी'

[जैन साहित्य में जहाँ ग्राम-चेतना निहित है, वहाँ तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस-प्रवण हो उठी है। ग्राम-चेतना के ऐसे मांगलिक स्वर क्रान्तिदर्शी कवियों की द्वाजा-स्पष्टिनी सूक्तियों एवं तपःसिद्ध ऋषियों की उपदेश-वाणियों में समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।]

आज से शताब्दियों पूर्व भारत के एक भारतीय ग्राम कुण्डग्राम की सौभाग्य-समृद्धि पर सम्पूर्ण लिच्छवि-जनपद भ्रमन्द भ्रानन्द-मन्दाकिनी की लहरों में हिलोरें लेने लगा था। वह शताब्दि विशाला की गोद में भ्रवतीर्ण झालोक-पुंज से जगमग हो रही थी। वह झालोक-पुंज अपने तात्त्व्य के प्रकर्ष से तत्कालीन विस्तृत मानस-क्षितिज पर छा गया था। वह प्रभा-ज्योति किसी भी प्रकार के मोह में सर्वथा अनादृत थी।

सयमेव अभिसमागम्य आयय जोगमायसो हीए,
अभिगिण्णुडे अमाइल्ले भावकहं भगवं समियासी।

स्वयमेव तत्त्वों को भली प्रकार जानकर आत्मशुद्धिद्वारा मन, वचन, काया के योगों को अपने वश में करके शान्त, माया-रहित भगवान् यावज्जीवन पाँच समितियों एवं तीन गुणियों से युक्त थे। भगवान् महावीर तब कुण्डग्राम छोड़ चुके थे।

भारतीय दर्शन एवं साहित्य को कलेवर चाहे बहुत पहले मिल गया हो, किन्तु उसमें आत्मा का सञ्चरण, निश्चय ही, भगवान् महावीर का समकालीन मान्य होगा।

सच तो यह है कि जैन-साहित्य की अन्तिम निर्माण-वेला में प्राकृत की बीणा अत्यधिक सुरीली हो चुकी थी। जन-जन के प्राणों पर शिशिर-मधुर वाणी का जादू अस्तर कर गया था। तभी तो बाबरतिराज का यह कथन यथार्थ प्रमाणित हो सका—

एवमत्यर्दसणं सनिवेससिसिराओ बन्धरिद्धीओ,
अविरलमणिओ भावुवणबन्धमिह एवरपययमि।

[सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत में है।]

जयचल्लभ ने तो यहाँ तक कह डाला कि जब युवतियों का ललित, मधुर, प्रिय तथा शृङ्गार-रस-पूर्ण प्राकृत-काव्य उपलब्ध है, तो संस्कृत कौन पड़े ?

ललिए मट्टरक्खरए बुबई-यण-बल्लहे स-सिगारे
संते पाइयकब्बे को सक्कह सक्कयं पडिउं।

प्राकृत की प्रशंसा में राजशेखर का श्लोक भी कम कमनीय नहीं है—

पुरुषो सक्कय-बंधो पाउअ-बन्धो वि होइ मुउमारो,
पुरिस-महिमाणं जेत्तिअमिहंतरो तेत्तिअमिमाणं ।

[संस्कृत-भाषा कर्कश और प्राकृत-भाषा सुकुमार होती है । पुरुष और स्त्री में जितना अन्तर होता है, उतना ही इन दो भाषाओं में है ।]

तो, इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि जैन साहित्य के रस-रक्त से भोजः—पर्यन्त प्राकृत की सुधा प्रवाहित हो रही है । आज जैन साहित्य के सम्बन्ध में जन-जीवन से सम्बद्ध यह धारणा निर्मूल हो चुकी है कि जैन-साहित्य केवल धर्म-ग्रन्थों की पांथियों में ही समाहित है । जैन-साहित्य की परवर्ती उपलब्धियों के अनुशीलन में साहित्य-चिन्तकों के समक्ष यह तथ्य अतिरोहित हो चुका है कि इनमें साहित्य की प्रत्येक विद्या का अक्षय वैभव विद्यमान है ।

निबन्ध, कथा, आख्यायिका, उपन्यास, चरित-काव्य, प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक-काव्य एवं नाटक सब-के-सब अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं । जैन-साहित्य की भाषागत विशिष्टता के साथ ही उसकी भावगत उत्कर्षता भी इतर साहित्य के लिए स्पर्धा की वस्तु है ।

जैन साहित्य में जहाँ ग्राम-चेतना निहित है, वहाँ तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस-प्रवण हो उठी है । ग्राम-चेतना के ऐसे माङ्गलिक स्वर क्रांतदर्शी, कवीश्वरों की द्वाशा-स्फुरिनी सूक्तियों एवं नपःसिद्ध ऋषियों की उपदेश-वारिणियों में समान रूपेण श्रुतिगोचर होते हैं ।

सच तो यह है कि साधना की वही पृष्ठभूमि काव्य को अमरता प्रदान कर पाती है, जो सामाजिक उर्वरक से सम्पन्न हो । इस दृष्टि से जैन-साहित्य कला के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है । यह प्रत्यक्ष है कि भारतीय समाज का अधिकांश गाँवों के अंचल में पलता है, जहाँ प्राकृत की पुष्करिणी खिलखिला रही—

चोराणं कामुआणं अ पामर-पहिआणं कुक्कुडो वअइ,
रे रमह बहह वाहपह एत्थ तरुण आअए रअणी ।

[अब रात थोड़ी-सी बच रही है, यह सूचित कर, मुर्गा चोरों कामुको एवं पथिकों को सावधान कर रहा है ।]

ग्राम-जीवन में मुर्ग की स्थिति उपेक्ष्य नहीं है । ‘अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटः’, ‘जहाँ मुर्ग नहीं होगा, वहाँ सुबह नहीं होगी’ प्रभृति उचितयाँ कुक्कुटगत ग्राम-चेतना के निर्दर्शन हैं ।

मज्जे पअणुअपअङ्कं अवहीवासेसु साणचिक्खिल्लं,
गामस्स सीसमीमन्तअं व रच्छाअुहं जाअं ।

[ग्राम का रास्ता बीच में स्वल्पपङ्क्त एवं दोनों ओर शुष्कपङ्क्त धारण करके इसके शीर्षगत सोमन्त जैसा प्रतीत हो रहा है । यहाँ ग्राम-चेतना-समन्वित कल्पना की नवीनता सर्वथा मनःप्राणों को झुमा देती है ।]

अप्याहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण,
महं एामेण जहं पुमं एण लज्जसे तहं करेजासु ।

[मरता, मृतप्राय, गाँव का मुखिया यत्नपूर्वक अपने पुत्र को यह उपदेश दे रहा है कि बेटा, उस प्रकार काम करना, जिससे मेरा नाम लेने पर कोई तुम्हें लजित न करे ।]

मुक्तक की इन पंक्तियों में शाश्वत ग्राम-चेतना लहरा रही है। मुक्तक का यह ग्राम-मुखिया ग्राम-जीवन की उदात्त वृत्ति एवं लोक-मंगल-भावना पर जो भ्रमट छाप छोड़ता जा रहा है, वह केवल कलरना की भ्रमना से शोभित नहीं, तथ्य एवं यथार्थ से मण्डित है।

‘गावों में भयतः सन्तु’, ‘गावों में पृष्ठतः सन्तु’ उक्तियों के रसनाग्रवर्त्तिनी होते ही गाँवों में ग्राम-जीवन रूपायित हो उठता है। गाँवों में ग्राम-जीवन में कामधेनु हैं। स्वर्ग के पारिजात धरती की इन कामधेनुओं से पराजित रहते हैं। लोकाराधन में अरुणों से लेकर गाँवों तक गाँवों का समान योग है। हर्ष का विषय है कि जैन कवि इस लोकैषणा से पराङ्मुख नहीं हो पाये हैं। देखिए—

तह परिमलिया गोवेण तेण हर्ष पिजा ण भोजेइ ।

सम्भिस भेरू एहिण पेच्छु कुडदोहिणी जाप्पा ॥

[देखो, जो धेनु पहले उस गोप द्वारा उस प्रकार दुही जाकर भी उसके हाथ को भी गीला नहीं कर पाती थी, वही घड़ा भर कर दूध दे रही है ।] और भी—

धवलोजिभइ तुह कए धवलस्म कए जिभन्ति गिट्ठीधो ।

जिभ तन्वे अम्ह वि जीविएण गोठुं तुमाअत्तं ॥

[हे धेनु, तुम्हारे ही सुख के लिए गोरा बैल प्राण-धारण करता है एवं एक बार प्रसूता धेनुएँ भी उनके सुख के लिए जीवित हैं। तुम बची रहो, अपने जीवन द्वारा तुमने हम लोगों के गोष्ठ को अपने अधीन कर रखा है ।]

इसी प्रकार अधस्तन पंक्तियों में ग्राम के अंक में खिली नवमल्लिका-सदृश मनोज्ञ उपमा की नैसर्गिक छटा दर्शनीय है—

पङ्कमइलेण छीरेकपाइया दिण्णजगुवडणेण ।

आनन्दिअइ हलिधो पुत्तेण व सालिखेत्तेण ॥

[पंक-मलिन, केवल दुग्धपायी एवं घुटनों द्वारा चलनेवाले शिशु की भाँति पंक-मलिन, केवल जलपायी एवं जानुस्थानीय (धान) मृणाल-ग्रन्थिधारणशील शालि (धान्य) क्षेत्र द्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है ।]

वस्तुतः उपमा-उपमेय के इस मणि-कांचन-संयोग का दृश्योपभोग गाँव से बाहर दुर्लभ है।

वर्णन की रमणीयता का एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है—

कहँ मे परिणइकाले खलसङ्गी होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।

भोण अमुहो ससुभो खइ व साली तुसारेण ॥

[मेरे परिणतिकाल में अर्थात् पक्वावस्था में खलिहान एवं दुष्ट-जन-खेल का संग कैसा होगा— यह चिन्ता कर मुख नीचे कर झुक-सहित शालि-धान्य तुषार के बहाने जैसे रो रहा है ।]

ग्राम-पक्षियों में सुमे की ग्रामीणों द्वारा जितना प्यारोपहार उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसी पक्षी को नहीं। गाँवों के अन्तरंग का निरीक्षण करने पर घर के बरामदों में टींगे हुए पिञ्जर-

गत शुक्र की हरोतिमा को देख-देख आँखें भ्रमा जाती है। वृक्ष-कोटर से निकलते हुए शुक्र की कतार पर दृष्टिपात करते ही जैन कवि की कल्पना की उड़ान विस्मित कर देती है—

उग्रह तस्रकोटराग्रो शिवकन्तं पुंसुबाणं रिच्छोर्लि ।

सरिण जरिग्रो व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिणं वमइ ॥

[देखो, वृक्षकोटर से पुंशुको की पंक्ति निकल रही है। जान पड़ता है कि शरत् में ज्वराक्रांत वृक्ष रक्तमिश्रित पित्त की उलटी कर रहा है।]

कवि की कितनी दूरदृष्टिता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि 'वर्षामृ चायते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति' वर्षा में पित्तका संवय होता है और शरत् ऋतु में उसका प्रकोप होता है। अतः स्वभावतः बड़ा हुआ पित्त शरत्काल में शरीर से बाहर निकलने के लिए उपद्रवकारी बन जाता है।

गाँवों के ग्रन्थज पंछी कवि की दुर्दशा भी दर्शनीय है—

आराधुवन्तमुहा लम्बिअवक्खा गिउच्चिअग्गोवा ।

वइवेढनेमु काआ मूलाहिण्णा व्व दोसन्ति ॥

[खेतकी मेड़ के ऊपर बैठकर घृष्टिधारा द्वारा धोये हुए मुख, लम्बे पंख एवं फैली हुई प्रीणा वाले कोण शूलद्वारा विद्ध जैसे प्रतीत हो रहे हैं।]

एक अन्य अतिमूक्षम ग्राम्य-कल्पना की किंकिर्गी-ध्वनिकी सरसता भी आस्वाद्य है—

महिस्सकखन्धविलम्गं धोलइ मिंगाहम् सिमिमिन्तं ।

आहअवीणाभंकारसदमुहलं ममअबुन्दं ॥

[भैंसो के कन्धे पर लगे मणकबन्द सींगों द्वारा आहत होने पर मिम-मिम शब्द करते-करते आहत-वीणा के भंकार की ध्वनि की भांति सुखर हो घूम रहे हैं।]

और भी—

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिउअम्मि शिण्बुइं काउं ।

पीडिज्जन्ता विरसं जणन्ति उज्जु कुलीणा अ ॥

[गन्ना जिम प्रकार जिह्वा का स्वाद उत्पन्न करता है, हृदय में ताप निवृत्त कर, शान्ति का विधान करता है एवं निष्पीडित होने पर भी रस उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति भी जिह्वा अर्थात् अनुकूल वचन द्वारा प्रियता उत्पन्न करते हैं। हृदय में शान्ति प्रदान करते हैं, एवं प्रपीडित होने पर भी प्रीति उत्पन्न करते हैं।]

सोचिए, यह ईश ग्राम का ही रस-स्वोत्त है न ? हाँ, तो उमी गाँव में उपात्त एक मुग्ग के प्रति किसी ग्रामीण के उक्ति-श्लेषके चमत्कार का आश्लेष कीजिए—

भुज्जमु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।

मुदअ सलोणेण वि कि तेण सिण्हेहो जहिं एत्थि ।

[अपने उद्योग द्वारा जो छुट रहा है, उसीका भोजन करो। बँवई में रन्धन-कार्य के लिए लवण कहाँ मिलेगा ? हे मुग्ग ! जिस वस्तु में स्नेह (स्निग्धता) नहीं है, उसके केवल लवण (लावण्य) युक्त होने का क्या लाभ ?]

ग्राम-मर्यादा के एक अग्र शिल्पका साक्षात्कार करें—

चिरिडं पि अग्रगन्तो लोभा लोएहि गोखम्महिष्ठा ।

सोएण तुले व्व गिरक्खरा वि खन्वेहि उव्वन्ति ॥

[अनेक व्यक्ति वर्णमाला के ज्ञान से रहित अनेक व्यक्तियों को गौरव में अधिक समझ कर स्वर्णकार की निरक्षर तुला की भाँति, कन्धे पर झुलाकर ढोते हैं ।]

मरस मुक्तक-काव्यों की तरह दर्शन एवं उपदेश-वाणियों में भी ग्राम-चेतना की चमत्कृति के चरण-चिह्न उपलब्ध है । जीव और कर्म के सम्बन्ध के प्रसंग में कथित एक पद्य को मेरे कथन के समर्थन में उपस्थित किया जा सकता है—

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हऊण काउडियं ।

एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं ॥

[जैसे कोई भार ढोनेवाला पुरुष काबड़ के द्वारा भार ढाँसा है वैसे ही जीव कायरूपी काबड़ के द्वारा कर्मरूपी बोझ को ढोता है ।]

इसी प्रकार सम्यक्मिध्यात्व गुरुस्थान के सम्बन्ध में यह श्लोक स्मरणीय है—

द्विगुडमिव वामिस्सं पुहभावं एव कारिटुं सक्कं ।

एवं मिससयभावो सम्भामिच्छो त्ति एणव्वो ॥

[मिवे हुए दही और गुड़ की भाँति जिसका पृथक् स्वभाव नहीं बतलाया जा सकता, ऐसे सम्यक्त्व और मिध्यात्वरूप मिले हुए परिणाम वाला सम्यक्मिध्यात्व नाम का तीमरा गुरुस्थान है ।]

क्रोध की निन्दा के प्रसंग में प्रस्तुत श्लोक कितनी हृदयस्पर्शिणी ग्राम-चेतना को लक्षित कर रहा है—

जध करिसयस्म धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ।

उहहि फुणिगो दित्तो तध कोहमी समणसारं ॥

[जैसे खलिहान में इकट्ठे किये गये किसान के वर्षभर के सारे अनाज को एक अग्नि का कण जला देता है वैसे ही क्रोधरूपी आग श्रमणसार अर्थात् श्रमण के तपस्वी पुण्य को जला देती है ।]

दान-फल के स्वरूप-निर्देशन का अवलोकन कीजिए—

जह उत्तमम्म खित्ते पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ ।

तह दाणफलं खेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥

जह मज्झमम्मि खित्ते अण्णफलं होइ वाक्खियं वीरियं ।

मज्झमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥

जह ऊपरम्मि खित्ते पइण्णवीरियं ए किं पि सहेइ ।

फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥

[जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ अन्न बहुत फल देता है वैसे ही तीन प्रकार के पात्रों को दिया हुआ दान का फल भी समझना चाहिए । जैसे मध्यम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अल्पफल वाला होता है वैसे ही कुपात्र को दिया गया दान मध्यमफलवाला जानना चाहिए । एवं जैसे ऊपर क्षेत्र में

बोया हुआ बीज कुछ भी नहीं उगता है, वैसे ही अपात्र को दिया गया दान भी बिल्कुल निष्फल होता है ।]

शील एवं संगति मानव-जीवन की विभूतियाँ हैं । जो मनुष्य इन्हें खो देता है, वह अपने जीवन से हाथ धो बैठता है । सच पूछा जाय तो [शील ही विशुद्ध तप है, शील ही दर्शनशुद्धि है और ज्ञानशुद्धि है । शील ही विषयों का दुश्मन है और शील ही मोक्ष का सोपान है ।]

शीलं तत्रो विमुद्धं वंसणमुद्धो य णाणमुद्धो य ।

शीलं विसयाण अरी शीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥

संगति के विषय में तो जितना भी कहा जाय, अल्प ही है ।

देखिए—

तरुणस्स वि बेरगं पण्हाविज्जदि सारस्स बुड्ढेहिं ।

पण्हाविज्ज पाड्ज्जी वि ह वच्छस्स फस्सेण ॥

[जैसे जिसका दूध मूल गया है, ऐसी भी गाय बछड़े के स्पर्श से प्रस्त्रावित हो जाती है अर्थात् उसका दूध भरने लगता है वैसे ही तरुण मनुष्यों के भी वृद्धों (विशेष जानी एवं तपस्वियों) की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।]

दुःशील के चित्रण में निम्नांकित श्लोक भी कम आकर्षक नहीं है—

जहा सुणी फूडकजी निक्कसिजई मव्वसो ।

एवं दुस्मील पडिण्णए मुहरी निक्कसिजई ॥

[जैसे मछे हुए कान वाली कुतिया सब जगह से हटा दी जाती है, उसी तरह दुःशील, जानियों के प्रतिकूल रहनेवाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है ।]

एक श्लोक द्वारा परिग्रह के स्वरूप को पहचानने में कठिनाई नहीं होगी ।

जह कुंडग्रो ग सक्को सोधेयुं तंदुलस्स सतुस्स ।

तह जीवस्स ग सक्का मोहमलं संगमत्तस्स ॥

[जैसे तुषसहित तंदुल का अन्तर्मल नहीं दूर किया जा सकता, उसी प्रकार परिग्रह सहित जीव का भी मोहरूपी मल नहीं छुड़ाया जा सकता ।]

इस प्रकार ग्राम-चेतना से अनुप्राणित कतिपय सरस, मधुर मुक्तकों के आस्वादन के पश्चात् यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में ग्राम-चेतना का सागर निश्चय ही अनन्त अनमोल मणि-मुक्ता-रत्नों से समृद्ध हो महीय हो रहा है ।

वैदिक तथा बौद्ध शिक्षा-पद्धति के तुलनात्मक विवेचन सहित प्राचीन भारत में जैन-शिक्षापद्धति

डा० हरीन्द्रभूषण

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

[जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तराध्ययनसूत्र में हरिकेशवल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है, जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत था। जैन शास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं, किन्तु कर्मगत है। अतः शूद्रों के विद्याध्ययन में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी]

व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। मानव-जीवन की सफलता मानव के ज्ञान की मात्रा पर अवलम्बित होती है। शतपथ-ब्राह्मण (११, ५, ७, १-५) में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि—‘स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतंत्र बन जाता है, निरर्थक धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, वह अपना परम चित्किसक है, उसे इन्द्रियों पर संयम होता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है और उसे यश मिलता है।’

जैनागम में ज्ञान की अतिशय महिमा रवीकार की गई है। शिष्य ने पूछा—‘हे पूज्य ! ज्ञान-संपन्नता से जीव को क्या लाभ है?’। गुरु ने कहा—‘हे भद्र ! ज्ञान-संपन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थ भाव जान सकता है। यथार्थ भाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय संसाररूपी घटवी में कभी दुःखी नहीं होना पड़ता। जैसे घागा वाली सुई खोती नहीं है, वैसे ही ज्ञानी जीव संसार में पथ-भ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चरित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है।’

जैन तथा बौद्धों ने लौकिक विभूतियों को तिलाञ्जलि दी और भिक्षु का जीवन अपना कर ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियों की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके चरणों पर न्योछावर कर दिया। अवश्य ही उन विद्वान्-साधुओं का समाज पर यह प्रभाव पड़कर रहा कि अनेक राजाओं और राजकुमारों ने अपने वैभव और ऐश्वर्य के पद को अंगीकार न करके जीवन भर ज्ञान-मार्ग के पथिक रहकर सरल जीवन बिताया और अपने जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।

भारत में प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देना था।

१. उत्तराध्ययन, २९, ५६।

२. वही २०, भगवतोमृत—१२.२, १३.६, अन्तगडदशाग्रो—७।

३. ‘एज्युकेशन इन एंश्वेड इण्डिया’ : लेखक—आल्तेकर, पृ० ३२६.

विद्यार्थी-जीवन :

ब्राह्मण-संस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी-जीवन उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता है । इस संस्कार के पश्चात् उसका ब्रह्मचर्याश्रम-जीवन माना जाता है । उपनयन-संस्कार के बाद विद्यार्थी लगभग १२ वर्षों तक वैदिक धर्म, साहित्य और दर्शन का अध्ययन करता था ।

जैनगम में उपनयन-संस्कार का वर्णन है । अभयदेव ने उपनयन (उवणयण) का अर्थ 'कलाप्राहरण' किया है । कला का अर्थ है विद्या । विद्या-ग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता था उसे उपनयन कहा गया है ।^१ उपनयन के बाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे ।

प्रायः छात्र अपने अध्यापकों के घर पर ही रहकर अध्ययन किया करते थे । कुछ घनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे ।^२ छात्र तथा अध्यापकों के सुन्दर संबंध कभी बैबाहिक संबंधों के रूप में भी परिणत होजाते थे ।^३

अध्ययन-काल :

वैदिक-युग में ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था में होता था । उस युग में वेदों का अध्ययन ही प्रधान था ।^४ अतः १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे । माधारण रूप में १२ वर्ष का समय ब्रह्मचारी के लिए उचित माना गया है ।^५

जैनगम के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक ८ वर्ष में प्रारंभ होता था; और जब तक वह कलाचार्य के निकट संपूर्ण ७२ कलाओं का अथवा कुछ कलाओं का अध्ययन नहीं कर लेता था तब तक उसका अध्ययन चलता रहता था ।^६

बौद्ध संस्कृति में कोई गृहस्थ गाने कुटुम्ब का परित्र्याग करके किसी अवस्था का होने पर भी बुद्धसंघ और बुद्ध की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था ।

विद्या के अधिकारी :

वैदिक काल में जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य, प्रायः उन्हीं को अपनाते थे । जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में अममय होती थी उन्हें फाल और हल या ताने-बाने के काम में लगना पड़ता था ।^७

बौद्ध संस्कृति में विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक माना गया है । तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान है, जो क्रय किए जाने पर भी पैर को काटता है । दुष्ट शिष्य, आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है उसी में उनकी जड़ काटता है । गौतम ने नियम बनाया था कि ढांगी, डीठ, मायावी तथा गृहस्थों को निन्दा करने वाले भिक्षुओं के लिए

१. भगवती, ११, ११, ४२९, पृ० ९९९ (अमयदेववृत्ति) । २. उत्तराध्ययन-टीका, ६ पृ० १२४ । ३. वही १८, पृ० २६३ । ४. छान्दोग्य-उपनिषद्, ६, १, १-२ । ५. गोपब्रह्मज्ञान, २, ५ । ६. नायाधम्मकहाण्डो, १, २०, पृ० २१ । ७. छान्दोग्य-उपनिषद् ६, १, २ । ८. बुल्लवगम, १०, ७, २ ।

संघ में स्थान नहीं है। गौतम ने आदेश दिया था कि गृहासक्त, पापेच्छु तथा पापसंकल्पी भिक्षु को बाहर निकाल दिया जाय। संघ में प्रवेश करने वाले भिक्षु को छूत-रोग तथा ऋण-भार से मुक्त होना, राजा की सेवा में न होना, माता-पिता की स्वीकृति होना तथा भ्रवस्था का कम-से-कम २० वर्ष होना आवश्यक था।

जैनाचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्या-प्रेमी, मधुर-भाषी तथा शुभ-कर्मा होना आवश्यक बतलाया है।^१ आज्ञा उल्लङ्घन करने वाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'भविनीत' कहा गया है। इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला है, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है तथा अपने गुरु के इंगित मनोभाव तथा आकार का जानकार है वह 'विनीत' कहा गया है।^२

शिष्य के लिए बाबाल, दुराचारी, क्रोधी, हँसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन कहने वाला बिना पूछे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनों से बैर करने वाला नहीं होना चाहिए।^३ उत्तराध्ययन में शिष्य के लिए निम्न प्रकार का विधान बतलाया गया है—'शिष्य को गुरुजनों की पीठ के पास अथवा प्रागे-पीछे नहीं बैठना चाहिए; इतना पास भी न बैठना चाहिए, जिससे अपने पैरों का उनके पैरों से दर्श हो; शिष्य को शय्या पर लेटे-जेटे तथा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को प्रत्युत्तर न देना चाहिए; उन्हें गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर बढ़ाकर, अथवा घुटने छाती से सटाकर तथा पैर फैलाकर कभी नहीं बैठना चाहिए। यदि आचार्य शिष्य को बुलावे तो उसे कभी भी मीन न रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में मुमुक्षु तथा गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही अपने गुरु के पास जाकर उपस्थित होना चाहिए। शिष्य को ऐसे आसन पर बैठना चाहिए जो गुरु के आसन से ऊँचा न हो और जो शब्द न करता हो। आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र, वचन और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझाये।'^४

उत्तराध्ययन में गुरु तथा शिष्य के संबंध पर भी प्रकाश डाला गया है—'जैसे अच्छा घोड़ा चलाने में सारथी को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिए विद्या-दान करने में गुरु को आनन्द प्राप्त होता है। जिस तरह अडियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथी थक जाता है वैसे ही भूलें शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साह हो जाता है। पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों और भर्त्सनाओं को बध तथा आक्रोश (गाली) मानता है। साधु पुत्र तो यह समझकर कि गुरु, मुझको अपना पुत्र लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं, गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है। किन्तु पाप-दृष्टि वाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुःखी होता है। यदि कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाय तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा उनकी विश्वास दिलावे कि वह अभिष्य में वैसे अपराध कभी नहीं करेगा।

१. उत्तराध्ययन ११. १४।

२. वही. १. २।

३. वही. १. ४, ९, १३, १४, १७।

४. वही. १. १८-२३।

शूद्रों का विद्याधिकार :

वैदिक काल में भार्यतर जातियों के आर्यभाषा और संस्कृति में निष्ठागत होकर वैदिक मंत्रों का रचना करने का उल्लेख मिलता है। शूद्रों की वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानतः स्मृति-काल में लगी। उनके लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी। आश्वलायन-शृङ्गसूत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों जातियों के 'समावर्तन' संस्कार के विधान दिए गए हैं।^१

बौद्ध संस्कृति में भी ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व के विकास करने का मार्ग, सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया था। एक बार संघ में प्रवेश पा जाने पर, ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में शूद्र जाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नहीं होती थी। गौतम के जीवन-काल में शूद्र-वर्ग के अग्रगण्य व्यक्ति उनके शिष्य बन चुके थे^२। जातक-काल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल ही चुके हैं, जो उच्च कोटि के दार्शनिक तथा विचारक थे^३। सुत्त-निपाण के अनुसार मातङ्ग नामक चाण्डाल ती इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ण के लोग आते थे।

जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का, दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना संभव था। उत्तराध्ययन (१२.१.) में हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुरुओं से अलंकृत था। जैनशास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्गव्यवस्था जन्मगत नहीं, किन्तु कर्मगत है। 'कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से शूद्र होता है'^४। इस प्रकार प्राचीन काल में जैन दृष्टि से शूद्रों के विद्याध्ययन में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं थी।

अध्ययन के विषय :

वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्व प्रथम रहा है। वेद के अतिरिक्त वेदाङ्गों का भी महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है। इनका अध्ययन और अध्यापन वैदिक काल में वैज्ञानिक दृष्टि से होने लगा था। छान्दोग्य-उपनिषद् (७.१.२) में तत्कालीन अध्ययन के विषयों की एक सूची इस प्रकार मिलती है—'चारों वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्धयज्ञ), राशि (गणित), देव (भौतिक विज्ञान), निधि (काल-ज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकापन (नीति), देवविद्या (शिल्प तथा कलायें)।

भगवतीसूत्र (२.१) में अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गये हैं—छह वेद, छह वेदाङ्ग तथा छह उपाङ्ग।

छह वेद इस प्रकार हैं—१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद, ५. इतिहास- (पुराण) तथा ६. निषण्डु।

छह वेदाङ्ग इस प्रकार हैं—१. संज्ञाण (गणित), २. सिक्खाकण्य (स्वरशास्त्र), ३. वागरण (व्याकरण), ४. छंद, ५. निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६. ज्योडस (ज्योतिष)। छह उपाङ्गों में प्रायः वेदाङ्गों में वर्णित विषयों का और अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन था।

१. आश्वलायन-शृङ्गसूत्र ३.८ । २. बुद्धवर्ग ९.१.४ तथा महावर्ग ६.३७.१ ।

३. सेतुजातक ३७७ ।

४. उत्तराध्ययन २५.३३ ।

स्थानाङ्ग (३. ३. १८५) में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है। जन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—ग्रायवेद तथा घनायवेद। ग्रायवेदों की रचना भरत तथा अन्य ग्राचाव्यों ने की थी। इनमें तीर्थङ्करों के यथोगान तथा श्रवण एवं उपासकों के कर्तव्यों का वर्णन था। बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने घनायवेदों की रचना की।^१

उत्तराध्ययन-टीका (३. पृष्ठ ५६ अ.) में निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए हैं—४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मिमांसा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्त्व (धर्मशास्त्र)।

अङ्गशास्त्र में ७२ कलाओं का वर्णन मिलता है। ये कलाएँ निम्न प्रकार हैं—१. लेह (लेख), २. गरिण्य (गरिण्य), ३. पोरकब्ब (काव्य-निर्माण), ४. अज्जा (आर्याङ्ग), ५. पहेलिया (प्रहेलिका), ६. मायधिया (मागधी भाषा), ७. गाहा (गाथा), ८. गोइय (गीति), ९. सिलोय (श्लोक), १०. ख्व (मूर्तिनिर्माण-कला), ११. नट्ट (नृत्य), १२. गीय (गायन), १३. वाइय (वादित्र) १४. सरगय (सरगम), १५. पोक्खरगय (डोल-वादन), १६. समताल (ताल का ज्ञान), १७. दग्गमट्टिय (मृत्तिका-विज्ञान), १८. जूय (द्यूत), १९. जणवाय (एक विशेष प्रकार का छून), २०. पासय (प्रसन्न्य), २१. अट्टावय (शतरंज), २२. मुज्जेड (कठपुतली-विज्ञान), २३. वत्थ (भौरे का खेल) २४. नलिका-खेड (पांसो का खेल), २५. अन्नविहि (भोजन-विज्ञान), २६. पाणविहि (पानक-विज्ञान), २७. वत्थविहि (वस्त्र-विज्ञान), २८. विलेवरविहि (विलेपन-विज्ञान), २९. सयणविहि (सयन-विज्ञान), ३०. हिरण्यजुत्ति (चांदी के आभूषणों का विज्ञान), ३१. मुवण्यजुत्ति (सोने के आभूषणों का विज्ञान), ३२. चुण्यजुत्ति (चूर्ण-विज्ञान), ३३. आभरण-विहि (अन्य आभरण-विज्ञान), ३४. तरणीपडिक्कम्म (युवती-विज्ञान), ३५. पत्तच्छेज (पत्रों द्वारा आभूषणों के प्रकार बनाना), ३६. कडच्छेज (मस्तक को सजाने का विज्ञान), ३७. इत्थिलक्खण (स्त्री-लक्षण), ३८. पुरिसलक्खण (पुरुष-लक्षण), ३९. हयलक्खण (अश्व-लक्षण), ४०. गयलक्खण (गज-लक्षण), ४१. गो-लक्खण (गो-लक्षण-विज्ञान), ४२. कुक्कुडलक्खण (मुर्गी-वालन), ४३. छत्तलक्खण (क्षत्रलक्षण-विज्ञान), ४४. दण्डलक्खण (दण्डलक्षण-विज्ञान), ४५. असिलक्खण (असिलक्षण-विज्ञान, ४६. मणिलक्खण (मणिलक्षण-विज्ञान), ४७. काकिणीलक्खण (काकिणीरत्नलक्षण-विज्ञान), ४८. सउण्ण (पक्षियों की बोली का ज्ञान), ४९-५०. चार-पडिचार (ग्रहों के चलन तथा प्रतिचलन की विद्या), ५१. सुवण्णपाग (स्वर्ण बनाने की विद्या), ५२. हिरण्यपाग (चांदी बनाने की विद्या), ५३. सज्जीव (नकली धातुओं को असली धातु में परिवर्तित करने की विद्या), ५४. निज्जीव (असली धातुओं को नकली धातु में परिवर्तित करने की विद्या), ५५. वत्थुविज्जा (गृहनिर्माण-विद्या), ५६-५७. नगर-माण-संधारमाण (नगर तथा स्कंधाचारों को नापने की विद्या), ५८. जुद्ध (युद्ध-विज्ञान), ५९. निजुद्ध (मल्ल-विज्ञान), ६०. जुद्धातिजुद्ध (घोर युद्ध), ६१. दिट्ठिजुद्ध (दृष्टि-युद्ध), ६२. मुट्ट-जुद्ध (मुष्टियुद्ध), ६३. बाहुजुद्ध (बाहु-युद्ध), ६४. लयाजुद्ध (मल्लयुद्ध), ६५. ईसत्थ (तोर चलाने की विद्या), ६६. धरुणवाय (असि-विज्ञान), ६७. धनुब्बेय (धनुर्वेद) ६८. बूह (व्यूह-विज्ञान) ६९. पडिवूह (प्रतिव्यूह-विज्ञान), ७०. चक्कवूह (चक्रव्यूह-विज्ञान), ७१. गरुलवूह (गरुडव्यूह-विज्ञान) तथा ७२. सगडवूह (शकव्यूह-विज्ञान)।

स्थानाङ्गसूत्र (१.६७८) में नव प्रकार के पाप-श्रुतों का वर्णन इस प्रकार है—१. उपाय (अपशकुन-विज्ञान), २. निमित्त (शकुन-विज्ञान), ३. यन्त (उच्च-इन्द्रजाल-विद्या), ४. आउक्खिय (नीच-इन्द्रजाल-विद्या), ५. नेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान), ६. कला (कला-विज्ञान), ७. आवरण (गृहनिर्माण-विज्ञान), ८. अण्णारा (साहित्य-विज्ञान), ९. मिच्छापववण (असत्य-शास्त्र),^१

आचार्य :

श्रवैदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे। आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था।^२ वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर अमरत्व विद्यापियों को आकर्षित कर लेता था।^३

बौद्ध-शिक्षण में गौतम के व्यक्तित्व की सर्वोपरि महिमा थी। गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया था वह बौद्ध-शिक्षण के परवर्ती आचार्यों के लिए मार्ग-प्रदर्शक बनकर रहा। गौतम में अदम्य उत्साह था। उनमें कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई-नई विषम परिस्थितियों को मुझभाने के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के निकट अपने संदेहों को मिटाने के लिए आते थे।^४

जैन-शिक्षण के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की छाया रही। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को मलय दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देने थे।^५

‘रायपसेणिय’ में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है—१. कलाचरिय (कलाचार्य), २. सिप्पाचरिय (शिल्पाचार्य), ३. धामाचरिय (धर्माचार्य)।

आचार्य को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण योग्य होना आवश्यक था। आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की, जैन-संस्कृति में जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी—‘वह सत्य को नहीं छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नहीं करता था और न यज्ञ की कामना करता था। वह कभी भी अन्य धर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था। सत्य भी कठोर होने पर उसके लिए त्याग्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। शिष्य को डाँट-डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यान-शैली शुद्ध थी। वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था।’^६

शिक्षण-विधि :

वैदिक काल में प्रारम्भ से ही मंत्रों को कण्ठस्थ करने की रीति थी। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति, वाणी के माथ हाथ की गति से भी की जाती थी। वैदिक मंत्रों को कण्ठस्थ करने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे, जैसे—संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि।

१. नायाधम्मकहायो. १. २०. (पृ० २१)।

२. अपवर्गवेद. ११. ५. ३।

३. वही. ११. ५. १६।

४. महावग्ग. ८. १३. ७।

५. आचाराङ्ग १.६.५. २-४।

६. सूत्रकृताङ्ग १.१४. १६-२७।

बौद्ध शिक्षण-पद्धति का आदर्श, स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। गौतम ने कहा था—“जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः शनैः बढ़ती है, सहसा नहीं, हे भिक्षुओं, उसी प्रकार धर्म की शिक्षा शनैः शनैः होनी चाहिए। पद-पद चलकर ही अर्हत् बना जा सकता है।” गौतम के शिक्षण में उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण और कथा का समावेश होता था।

जैन शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है। महावीर ने कहा था कि—“जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं, वैसे ही शिष्यों को नित्य-प्रति, दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए।” यदि शिष्य संशेष में कुछ समझ नहीं पाता तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था। आचार्य श्रम का अनर्थ नहीं करते थे। वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को, यथावत्, शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं करते थे।^१

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था। विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपना पाठ कण्ठस्थ कर लेता था। फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था।^२ प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य को हाथ जोड़ लेता था।^३

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के ५ अंग थे—१. वाचना (पढ़ना), २. पृच्छना (पूछना), ३. अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना) ४. आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५. उपदेश।^४

अवकाश :

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे। अकाल मेघों के आ जाने पर, अत्यधिक गर्जन बिजली का चमकना, अधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान तथा चन्द्र-सूर्य ग्रहण के समय प्रायः अवकाश हो जाता था। दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शान्ति-भंग हो जाने पर, मङ्गल युद्ध के समय अथवा नगर के सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर ग्रन्थपन बन्द कर दिया जाता था। कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते में ग्रन्थ का मिल जाना, जिस जगह विद्यालय है उस मुहल्ले में बच्चे का जन्म आदि तुच्छ कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था।^५

अनुशासन :

वैदिक-काल में आचार्य विद्वानों को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि—अपना काम करो, कर्मभ्यता ही शक्ति है, अग्नि में समिया डालो, अपने मन की अग्नि के समान श्रोत्रस्वता से समिद्ध करो, सोमो मत।^६

जैन-शिक्षण में भिक्षुओं के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्त्व दिया गया है। श्रत-भंग के प्रसंग पर साधु को मरना ही श्रेयस्कर बताया गया है। जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य-शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु अनर्थ भी बताया गया है। शरीर का संस्कार करने वाले अमण ‘शरीर-

१. बुद्धचरित ६.१-४। २. आचारारङ्ग १.६ ३-३। ३. सूत्रकृतांग १.१४. २४-२७।

४. उत्तराध्यायन २६.१८ तथा १.१३। ५. वही १.२२ ६. स्थानांग ४६५।

७. व्यवहार-आप्य ७.२८१-३१६। ८. जतपथ ब्राह्मण १.१.४.५।

बकुश' (बरित्र-भट्ट) कहलाते थे ।^१ परवर्ती युग में विद्याधियों के लिए आचार्य की आज्ञा का पालन करना, डाट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना, आदि नियम बनाये गए । विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण और गुरुजनों का अभिवादन करते थे । दिन के तीसरे पहर में वे भिक्षा मांगते थे, रात्रि के तीसरे पहर में वे सोते थे । विद्यार्थी भूल से किए गए अपराधों का प्रायश्चित्त भी करते थे ।^२

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करे ।^३ योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करते थे, गुरु से असद्व्यवहार नहीं करते थे, और झूठ नहीं बोलते थे । अयोग्य विद्यार्थी भी हुम्ना करते थे जो गुरु से सदैव हस्त ताडन तथा पाद-ताडन (खंडुया, चपेडा) प्राप्त किया करते थे । वे वेत्र-ताडन भी प्राप्त करते थे तथा बड़े कठोर शब्दा से सम्बोधित किये जाते थे ।^४ अयोग्य विद्यार्थियों की तुलना दुष्ट बैलों से की गई है । वे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते थे । कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रों से पककर उन्हें छोड़ भी दिया करते थे ।^५ छात्रों की तुलना पर्वत, घड़ा, चलनी, छत्रा, राजहंस, भैंस, मच्छर, जोंक, विल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थों से की गई है जो उसकी योग्यता और अयोग्यता की ओर संकेत करते हैं ।^६

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेणुम, क्षौम, मन, ताड़पत्र आदि के बने वस्त्रों के लिए गृहस्थ से याचना करते थे । वे चमड़े के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्ण जटित अलंकृत वस्त्रों को ग्रहण नहीं करते थे । हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुरिण्या चार वस्त्र पहिनती थीं ।^७

समावर्तन :

वैदिक काल में अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे । आश्रम छोड़ते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उनके भावी जीवन की प्रगति में महायक होते थे ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १. ११)

जैनागम में भी समावर्तन संस्कार का वर्णन मिलता है । छात्र जब अध्ययन समाप्त करके घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था । 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया । मारा नगर पताकाओं तथा वन्दनवारों से सुसज्जित किया गया । 'रक्षित' को हाथी पर बिठाया गया तथा लोग ने उसका सत्कार किया । उसकी योग्यता पर प्रमत्त होकर लोगों ने उसे दास, पशु, स्वर्ण आदि द्रव्य दिया ।^८

विद्यालय तथा विद्या के केन्द्र :

वैदिक काल में प्रायः प्रत्येक गृहस्थ विद्वान् का घर विद्यालय होता था^९, क्योंकि गृहस्थ के ५ यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ का पूर्ति के लिए गृहस्थ को अध्यापन-कार्य करना आवश्यक था ।^{१०} जिन वनों,

१. स्थानांग ४४५ तथा १५८ । २. उत्तराध्ययन २६ ।

३. आवश्यकनिर्युक्ति । २२ ।

४. उत्तराध्ययन । १.१३. (टिप्पणी) ।

५. वही । २७ ८, १३, १६ ।

६. आवश्यकनिर्युक्ति । १३९. आवश्यककूर्तुणि १२१.४ ।

७. आचाराङ्ग । २, ५, १, १ ।

८. उत्तराध्ययन टीका २, पृ०, २२,

९. छान्दोग्य उपनिषद् ८, १५, १ तथा ४, ९, १ तथा २, २३, १ । १०. मनुस्मृति ३, ७०, १ ।

पर्वतों, और उपनद प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-सम्बर्धन के लिए उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के उपयोग के लिए चुने। महाभारत में कण्व, व्यास, भरद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं।^१ रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था।^२

बौद्ध-शिक्षण विहारों में होता था। ये विहार नगरों के समीप ऊँचे भवनों के रूप में बनते थे। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनो लोगों ने गौतम बुद्ध के समय से ही विहारों के बनवाने का उत्तरदायित्व लिया। ऐसी परिस्थिति में विहारों का राजप्रसाद के समकक्ष होना स्वाभाविक था। प्रारंभ में विहार सादे होते थे, पर धीरे-धीरे वे सुसंस्कृत बनने लगे।

आवस्ती के 'जैतवन' विहार का निर्माण अनाथपिंडक ने गौतम बुद्ध के जीवनकाल में कराया था। उसमें १२० भवन और अनेक शालाएँ थी। उपदेश देने के लिए, समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए पृथक्-पृथक् शालाएँ थी। साथ ही स्नानागार, भ्रौषघालय, पुस्तकालय, अध्ययनकक्ष आदि बने हुए थे। पुस्तकालय में बौद्धधर्म की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य विचार-धाराओं के ग्रन्थों का भी संग्रह किया गया था। उसमें अनेक जलाशय भी बनाये गये थे।^३

वलभी में बौद्धधर्म के महायान तथा हीनयान सम्प्रदाय वाली पाठशालायें थीं। हीनयान वालों का बहुमत था। वलभी, शिक्षाकेन्द्र के रूप में उस समय ख्याति की चरम सीमा पर था। तिसांग ने लिखा है कि नालन्दा की भाँति वलभी में भी विश्वविद्यालय था। प्रायः सभी विषयों की शिक्षा, (शब्द से आरम्भ होकर अभिधर्म तक की) दी जाती थी। वहाँ के विद्यार्थी बाहर से आये हुए छात्रों को भी पढ़ाने की क्षमता रखते थे। तिसांग ने आगे लिखा है कि भारतवर्ष में, पूर्व में नालन्दा और पश्चिम में वलभी, चीन के चिन-मा, शिह-चू तथा चाऊ-लि से किसी प्रकार कम नहीं थे।

वलभी नालन्दा की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं था। नालन्दा जहाँ महायान का केन्द्र था, वहाँ वलभी में हीनयान की प्रमुखता थी। वलभी में प्रवेश पाना भी सरल कार्य नहीं था। दस में से मात्र दो-तीन छात्र ही वहाँ प्रवेश पा सकते थे। शब्द न्याय, अभिधर्म, शिल्प, चिकित्सा जैसे विषयों की वहाँ शिक्षा दी जाती थी। वेद तथा उपनिषद् का भी वहाँ अध्ययन होता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि वलभी में १०० विहार तथा ६००० भिक्षु थे। इससे प्रतीत होता है कि वलभी विश्वविद्यालय में छात्रों की संख्या भी पर्याप्त थी।^४

जैन संस्कृति की आचार्य-परंपरा तीर्थङ्करों से आरम्भ होती है। तीर्थङ्कर प्रायः अनगर होते थे। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का अनगर होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थङ्करों की शाला का भवनों में होना संभव न था। उनके शिष्य-संघ आचार्यों के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे। महावीर के जो ११ गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे। उनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त तथा सुधर्मा के, प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पिक, अचलभ्राता, मेदाय्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे।

१. आदि पर्व, ७०।

२. रामायण २. ५६. १६।

३. वार्ट्स 'ह्वेन साङ्ग'—भाग १ पृ० ३८५-३८६

४. भारती (भवन की पत्रिका), लेख वलभी, ले० ज. ह. दवे पृ० ६७।

ये भ्रमण करते हुए संयोगवश, महावीर से मिले और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गये ।^१

शनैः शनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिए भी गुफा मंदिर तथा तीर्थ क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे । इसके बाद राजधानियाँ, तीर्थ-स्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने । राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे । समृद्ध राज्यों की अनेक राजधानियाँ बड़े-बड़े विद्या-केन्द्रों के रूप में परिणत हुईं । जैनग्रंथों में वर्णन है कि बनारस विद्या का केन्द्र था । शंखपुर का राजकुमार अगडदत्त वहाँ विद्याध्ययन के लिए गया था । वह अपने आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा । सावस्थी (आवस्ती) एक अन्य विद्या का केन्द्र थी । पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था । रत्निलय, जब अपने नगर दशपुर में अपना अध्ययन न कर सका तो वह उच्च-शिक्षा के लिए पाटलिपुत्र गया । प्रतिष्ठान, दक्षिण में विद्या का केन्द्र था ।

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयो में भी विद्याध्यान हुआ करता था । ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होंने उपाध्याय के समीप रहकर, आश्रम का पूर्णरूप से ग्रहण कर लिया हो ।^२

उपर्युक्त रूप से विचार करने पर, स्पष्टतः ऐसा प्रतीत होता है कि, आज से मुहूर प्राचीन काल में, भारत में, जैन धर्म के अध्ययन-अध्यापन की एक सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली वर्तमान थी ।



१. कलामूत्र, 'लिस्ट ऑफ स्थविराज' तथा 'भ्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२० ।

२. 'Life in Ancient India' by J. C. Jain. पृ० १७३-१७७.

कविवर बनारसीदास और रस-परम्परा श्री जमनालाल जैन

[सुकवि वह होता है जो अपनी रचना में परमार्थ रस का वर्णन करता है । हृदय में कल्पित बात नहीं लाता और असत्य मृषावाद से प्रीति नहीं करता ।]

कविवर बनारसीदासजी १७ वीं शताब्दी के प्रतिभाशाली कवि थे, उनकी पद्यबद्ध आत्म-कथा (अर्थकथानक) से तो अब हिन्दी-जगत् लगभग परिचित हो ही गया है । यह "अर्थ-कथानक" हिन्दी-साहित्य में पहला आत्म-कथात्मक रचना है, जो भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से अद्भुत है । बनारसीदासजी साहित्य में परमार्थ अथवा आत्म-तत्त्व के पोषक थे । लोकरंजनात्मक साहित्य को उन्होंने अपना विषय नहीं बनाया । वे तत्त्व-चिन्तक थे और साहित्य को आत्मोन्नति में सहायक मानते थे । उनका सम्पूर्ण बाङ्गमय आत्मलक्ष्मी है । उनकी दृष्टि में वह ज्ञान मिथ्या ही है, जो आत्म-दर्शन से विमुख करे या केवल लौकिक हो । अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार-नाटक में वे सुकवि की प्रशंसा में कहते हैं कि 'सुकवि वह होता है जो अपनी रचना में परमार्थ-रस का वर्णन करता है, हृदय में कल्पित बात नहीं लाता और असत्य-मृषावाद से प्रीति नहीं करता ।' सुकवि के लिये वे कहते हैं—

ख्याति लाभ पूजा मन धार्न,
परमार्थ-पथ भेद न जाने ।
बानी जीव एक करि ब्रूँ,
जाको चित जड़ ग्रन्थ न सूँ ॥

जीवन के उषाकाल में, यानी चौदह वर्ष की उम्र में उन्होंने एक हजार दोहा-चौपाइयों में शृङ्गार-काव्य की रचना की थी, लेकिन उनकी मूल आध्यात्मिक प्रेरणा ने इसका समर्थन नहीं किया, सो गोमती के प्रवाह में बहा दी ! वे मानते थे कि शब्द वस्तुतः ब्रह्म है, यह अनादि है, उसकी शक्ति असीम है, उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए । शब्दों के साथ खिलवाड़ को वे अपराध मानते थे ।

साहित्य के रसों के बारे में भी उनके अपने विचार थे । इस लेख में बनारसीदासजी की मान्यता को ध्यान में रखकर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा ।

रस की व्यापकता :

"रस" का अर्थ अत्यन्त व्यापक है । सम्पूर्ण ब्रह्मांड रस से ओत-प्रोत है । संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें रस न हो । मानव-जीवन का एक-एक कण और एक-एक क्षण रसमय

है, पेड़-पौधे भी माँ वस्तुधा से रस ग्रहण करते और रस बनकर हमारे मन-प्राण को संपोषण देते हैं। मनुष्य अपनी इन्द्रियों से और मन से प्रतिक्षण रस ग्रहण करता रहता है और इसी कारण वह चैतन्य रहता है। किसी भी वस्तु और विषय के साथ जब मनुष्य तादात्म्य स्थापित करता है, उसमें लीन होता है, तो उसके भीतर एक प्रकार का रस-निर्माण होता है, जो आनन्द देता है। हम किसी से प्यार करें या घृणा, किसी पर क्रुद्धा करें या क्रोध, किसी से डरें या प्रसन्न हों, सब अवस्थाओं में हमारा मानस एक प्रकार की अनुभूति करता है। यह अनुभूति ही रस है। इस रसमयता की, अनुभूति की अभिव्यक्ति शब्दों में बहुत ही कम ही पाती है। मिश्रों को मिठास की अनुभूति स्वाद में है, शब्दों में नहीं।

अनुभूति और रस :

हम अपनी पाँचों इन्द्रियों तथा मन के द्वारा निरन्तर सक्रिय रहते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श करते हैं, रसना द्वारा स्वाद लेते हैं, घ्राण द्वारा गंध अनुभव करते हैं, श्रोत्रों द्वारा देखते हैं और कानों द्वारा सुनते हैं, मन इन सब इन्द्रियों का सरदार है। उसकी प्रेरणा से ही ये इन्द्रियाँ दौड़ती रहती हैं, पर मन की अपनी भी क्रिया शोखता होता है। वह बिना इन्द्रियों की मदद के भी सब कुछ करता रहता है। जोभ तो वस्तु को पाकर ही स्वाद की सूचना देगा, पर मन तो बिना देखे ही उसकी अनुभूति से सुखी-दुखी हो जाता है। असल में इन्द्रियाँ तो मनकी चाकर हैं, वे तो सूचना भर देनी हैं। अनुभूति तो मन ही करता है और उसकी प्रतिक्रिया इन्द्रियों पर प्रकट हो जानी है।

इसलिये कहा जा सकता है कि रस और अनुभूति एक ही चीज है। दोनों का अलग करके नहीं देखा जा सकता। बनारसी दासजी ने ठीक ही कहा है :

वस्तु विचारत ध्यावतं, मन पावै विश्राम ।

रस स्वादन मुख ऊपरै, अनुभौ याको नाम ॥

× × ×

अनुभव चिन्तामनि-रतन, अनुभव है रसकूप ।

अनुभव मारग मोल को, अनुभव मोल सख ॥

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि अनुभव स्वयं मोक्ष स्वरूप है। मोक्ष यानी सुख, अलक्ष्य सुख। उनकी दृष्टि में “अनुभौ ममान न धरम कोऊ और है ।”

अनुभव के अनन्त प्रकार :

अनुभव या अनुभूति एक-सी नहीं होती। अनुभूति केवल भूलात्मक ही नहीं होती, दुष्कात्मक भी होती है। एक ही मन में, एक ही क्षण में, एक ही वस्तु के प्रति अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अनुभूतियाँ कितने प्रकार की होती हैं। फिर भी हम मोटे तौर पर अनुभूति के दो भेद कर सकते हैं :—इन्द्रियानुभूति और आत्मानुभूति। इनको परोक्षानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति भी कह सकते हैं।

अनेक तत्त्व-चिन्तकों की मान्यता है कि हम अपनी इन्द्रियों से जो कुछ अनुभव करते हैं, वह प्रत्यक्षानुभूति है और जो अनुभूति इन्द्रियों में नहीं होती वह परोक्षानुभूति है। स्थूल अर्थात् लौकिक

दृष्टि से यह ठीक ही है, लेकिन गहरा : से सोचने पर प्रतीत होगा कि जिसे हम सामान्यतः प्रत्यक्ष-
नुभूति कहते हैं, वह इन्द्रियाभित होती है। इन्द्रियों का दर्शन या ज्ञान एक तो स्थूल होता है, फिर
उनकी शक्ति भी सीमित होती है। इन्द्रियानुभूति विविध प्रकार के भावों और परिस्थितियों पर
अवलंबित होती है। अगर हम किसी इन्द्रिय से काम लेना बन्द कर दें या कोई इन्द्रिय हो ही नहीं,
तो हमारी अनुभूति आत्मशक्ति के अभाव में कुंठित हो जाती है, इसीलिए इन्द्रियानुभूति वास्तव में
परोक्षानुभूति है—परावलम्बी है। शुद्ध अनुभूति—वास्तविक अनुभूति तो आत्मानुभूति ही है, जो किसी
भी इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं होती। इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के समस्त गुणों को एक साथ ग्रहण
नहीं किया जा सकता, जब कि आत्मा द्वारा वस्तु या विषय को एक साथ ग्रहण करने में कोई बाधा
नहीं आती। यह दूसरी बात है कि आत्मा द्वारा अनुभूति करना सरल और सम्भव है या नहीं।
आत्मा जितनी-जितनी राग-द्वेष से ऊपर उठेगी, उतनी-उतनी शुद्ध होगी और उतना ही उसका कार्य
इन्द्रिय-निरपेक्ष होगा। इन्द्रियजन्य ज्ञान और अनुभूति आत्मज्ञान या आत्मानुभूति में सहायक होती
है सही, क्योंकि देह और आत्मा का सम्बन्ध अयोग्याभित हैं। यों भी कह सकते हैं कि इन्द्रियों द्वारा
जो ज्ञान और दर्शन होता है, उसकी रसानुभूति आत्मा द्वारा होती है। दोनों एक-दूसरे के पोषक हैं,
किन्तु आत्मशक्ति इन्द्रिय-शक्ति से प्रबल और भिन्न है, इसमें सन्देह नहीं।

दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति :

दृश्य देखकर और शब्द सुनकर जो कुछ अनुभूति होती है, वह दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति
है। यह इन्द्रियानुभूति ही है। इसी को काव्यानुभूति कह सकते हैं। घर-गृहस्थी और कारोबार
सम्बन्धी अनुभूतियों में काव्यानुभूति भिन्न होती है। काव्य-साहित्य को पढ़कर, सुनकर या नाटक
आदि देखकर जो अनुभूति होती है, वही अल में साहित्य का रस है। इसे भावानुभूति भी कह
सकते हैं। यह अनुभूति परिष्कृत और संस्कृत होती है, क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र में तो मन मुलात्मक
भावों में रमता है और दुःखात्मक भावों से दूर भागता है। लेकिन काव्यानुभूति या रसानुभूति में
मुलात्मक या दुःखात्मक भाव में मन समान रूपसे रमता है और एक प्रकार का रस पैदा होता है।
साहित्य का दुःख भी प्रिय लगता, उससे मन तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पठन, श्रवण अथवा
अवलोकन में तादात्म्य स्थिति ही रस का स्रोत है।

काव्य की आत्मा : रस :

जिस कृति के अवलोकन, श्रवण या पठन से मन रसानुभव नहीं करना, उसमें लीन नहीं
होता, उस कृति को साहित्य नहीं कहा जाता। इसीलिए कहा गया है कि काव्य की आत्मा रस है।
रस-विहीन काव्य ठूँठ जैसा ही होता है। किसी शोकाकुल व्यक्ति को देखकर उसके प्रति सहानुभूति
पैदा हो सकता है, लेकिन काव्य में राम को सीता के वियोग में शोकाकुल देखकर जो भाव जाग्रत
होता है, जो रस पैदा होता है, लेखक और राम के प्रति जो एकात्मता स्थापित होती है, वह
अलग ही चीज है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। यही काव्य की आत्मा है।

रस के भेद :

भावों के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने रस के नौ भेद किये हैं। कुछ विद्वानों ने नी से
आगे बढ़कर वास्तव्य को भी दसवाँ रस माना है, ये नौ या दस रस नौ-दस स्थायी भावों के

आधार पर माने गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो मानव-मन भावों का सागर है। उसमें प्रतिक्षण इतने भाव उठते हैं कि भावों की संख्या में बाँवना लगभग असम्भव है। एक समय में एक ही भाव की प्रधानता रहती हो, सो भी नहीं। परस्पर-विरोधी भाव भी एक-साथ मन में उठते हैं। जैसे मधु की प्रथम बूँद के रस में और पाँचवी बूँद के रस में फर्क पड़ जाता है, वैसे ही साहित्य-रस के ग्रहण में भी मन की स्थिति उत्कंठा से उदासीनता में परिवर्तित हो सकती है। फिर भी रस के आधार स्वरूप जिन नौ भावों का माना गया है। वे साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं।

भाव स्थायी या अस्थिर ?

ये सारे भाव वस्तुतः राग-द्वेष-मोह जन्म ही होते हैं। रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद—ये नौ भाव हैं। इन भावों का सीधा सम्बन्ध मन और इन्द्रियो से है और सर्वथा लौकिक हैं। हमारी जो इन्द्रिय जितनी मंद या कमजोर होंगी, उतनी ही कम अनुभूति हम कर पायेंगे। इन्द्रियों से इनकी स्थिरता मंदिग्र हो जाती है। आचार्यों ने इन्हीं स्थायी भाव कहा है, लेकिन ये सब-के-सब सागर की लहरों का तरह बनते-मिटते रहते हैं, किसी काव्य ग्रन्थ, नाटक या उपन्यास को पढ़ते समय कभी हम करुणा से बिह्वल हो उठते हैं, कभी क्रोध के कारण हमारी भयंजन जाती है, कभी हमारा मुखड़ा विषम हो जाता है, कभी उत्साह में हमारा रक्त तेजी से दौड़ने लगता है। यहाँ तक कि शरीर तक फड़फड़े लगता है। कभी हम इतने अधीर हो जाते हैं कि सेटे-सेटे उठ बैठते हैं और कभी किताब पटक कर मन को विश्राम देने लगते हैं। दृग्गर्भ यह हुआ कि जिन भावों को साहित्य में “स्थायी” कहा जाता है, वे अपने में स्थिर नहीं हैं और वे इतने रूपों में व्यक्त होते हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती।

इन दृष्टि से राग-द्वेष-मोह में अतीत, निरपेक्ष आनन्दानुभूति ही वास्तविक रसानुभूति होती है, क्योंकि यही आत्मीय होती है। आत्मा को जो सहज सुख-रस मिलता है, वह किसी भी प्रकार के दबाव, प्रतिक्रिया, अनुकूलानुग्रह या आकर्षण से नहीं होता। काव्य की आत्मा रस अवश्य है, किन्तु वह रस विविध स्वादों वाला होता है—कभी कटु, कभी तिक्त, कभी कर्मला, कभी खारा। यह काव्य इन्द्रियों और मन को गुदगुदाता है, प्रभावित भी करता है, लेकिन शान्ति तो कदापि नहीं दे सकता। इसीलिये प्रश्न उठता है कि वह रस कौन-सा है जो खट्टे-मीठे स्वादों से परे, अत्यन्त शुद्ध है। वह होगा आत्मरस, परमार्थरस ! आत्मा के काव्य में, आत्मा के संगीत में ही वह उपलब्ध हो सकता है। आत्मानुभूति में रस-विरस की विषमता मिट जाती है। शुद्ध आनन्द ही स्थायी हो सकता है।

स्थायी भाव और नोकषाय :

स्थायी भाव नौ हैं—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद। जैनदर्शन में मानसिक भावों की दृष्टि से नोकषायों का विधान है। ये नोकषाय भी नौ ही हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, त्रोवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। स्थायी भावों और नोकषायों में हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा तो समान हैं। लेकिन शेष में अन्तर है।

जैनों ने क्रोध, विस्मय और उत्साह को नोकषाय नहीं माना है। क्रोध भय का ही एक रूप है और विस्मय और उत्साह भी निकटवर्ती ही हैं। उत्साह और विस्मय ऐसे भाव हैं जो मन पर

छा नहीं जाते। जैनाचार्यों ने उन्हीं भावों को महत्त्व दिया जो आत्मा को कसते हैं। क्रोध, उत्साह विस्मय क्षणकालिक भाव होते हैं। निर्वेद स्थायीभाव की जगह स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेदों (भावों) का संयोजन, मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। निर्वेद स्थिति सगुण-साकार मानव में तभी सम्भव होती है, जब वह स्त्री-पुरुष के द्वंद्व से मुक्त होकर शुद्ध मानवात्मा रह जाता है। साहित्य में तो स्त्री-पुरुष-नपुंसक भावों में मन उतरता-बढ़ता रहता ही है और इन्हीं तीनों भावों, का विस्तारपूर्वक, रसपूरक वर्णन होता है। यो भी, जो साहित्यानुरागी नहीं हैं, साधारण लोग हैं, वे अपने नित्य-जीवन में किसी-न-किसी भाव में रहते हैं, पहुँचते हैं। अभिनयों और नृत्य-समारोहों में तो प्रत्यक्ष ही ऐसा होता है। नोकझाँझ की परिगणना मोहनीय कर्म में की गयी है, जिनसे मुक्त हुआ जा सकता है और होना चाहिये। इसका मतलब यही है कि इन भावों से ऊपर उठे बिना आत्म-सुख उपलब्ध नहीं हो सकता। असल में चाहे साहित्य के स्थायी भाव हों या दर्शन-शास्त्र के नोकझाँझ भाव, आत्मोन्नति में बाधक होते हैं—आत्मा को भरमाते हैं।

मूल रस ?

मूल रस या रसरस के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई शृङ्गार को मूल रस मानते हैं, कोई अहंकार को, कोई अद्भुत रस को मानते हैं। भवभूति ने करुण रस को ही एकमेव माना है। कविवर बनारसीदासने शान्त रस को “रसनिको नायक” कहा है। इन सब मतमतान्तरों को देखते हुये कहना कठिन है कि किम रस को मूल माना जाय। किसी एक रस को प्रमुख या मूल मानकर सिद्ध किया जा सकता है कि बाकी के समस्त रस उसके अनुगामी हैं या उसी से उद्भूत होते हैं, अथवा उसी में गभित हैं। मूल रस या रसरस वस्तुतः उसीको कहना उपयुक्त होगा, जो आत्मानुभूति को उज्ज्वल बनाने में, जीवन को सहज, आनन्दमय, स्थिति में पहुँचा दे और किसी प्रकार की अकुलाहट न हो। ऐसा रस एक शान्त ही हो सकता है, जिसकी अनुभूति में समरसता जागती है। लालसा-आकांक्षा शून्य हो जाती है और जिसमें आवेग, उत्तेजना, आसक्ति आदि नहीं होती। यही निजानन्द रसलीन स्थिति है।

बनारसीदासजी के स्थायी भाव :

बनारसीदासजी ने नव रसों के स्थायी भावों का दृष्टियों से व्यक्त किया है। एक साहित्य की दृष्टि से, दूसरे आध्यात्मिक दृष्टि से। दो छन्दों में उन्होंने अपनी बात कही है :—

सोभा में सिंगार बसै, वीर पुरुषारथ में, कोमल हिए मे करुण रस बखानिये ।
आनन्दमें हास्य, रुंउमुंडमें विराजै रुद्र, बीभत्स तहाँ जहाँ गिलानि मन भानिये ॥
चिन्तामें भयानक, अथाहता में अद्भुत, माया की अरुचितामें मात रस भानिये ।
एई नवरस भवरूप, एई भावरूप, इनको विलेखिन सुदृष्टी जागें जानिये ॥

गुनविचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख ।

करुणा समरस रीति, हाम हिरदै उछाय सुख ॥

अष्टकरम-वल-मलन, रुद्र बरतै तिहि धानक ।

तन विलेख बीभत्स, रुंद मुख दसा भयानक ॥

अद्भुत अनन्तबल चितवन, सांत सहज वैराग ध्रुव ।

नवरस विलास परगाम तब, जब सुबोध घट परगट हुआ ॥

प्राचीन परम्परा तथा बनारसीदासजी के अनुसार स्थायी भावों का तत्त्वा इस प्रकार बनता है—

रस	परम्परागत स्थायी भाव	बनारसीदासजी के स्थायी भाव	
		भवरूप या साहित्य रूप	भावरूप या आध्यात्मिक
१. शृंगार	रति	शोभा	गुण-विचार
२. हास्य	हास	आनन्द	उत्साह-मुक्त
३. अद्भुत	विस्मय	अथाहता	अनन्तबल-चित्तन
४. वीर	उत्साह	पुरुषार्थ	उद्यम, उदारता
५. रोद्र	क्रोध	रुण्ड-मुण्ड	अष्टकर्म-क्षय
६. बीभत्स	जुगुप्सा	ग्लानि	तन-अगुचि
७. भयानक	भय	बिता	दंड-मुख दशा (जन्म-मरण विचार)
८. करुण	शोक	कीमलता	ममरसता
९. शांत	निर्वेद	माया की अरुचि	हृद वैराग्य

भवरूप और भावरूप :

बनारसीदासजी ने नव रसों के स्थायी भावों को भवरूप और भावरूप बताया है। भवरूप से उनका मतलब है कि वे मंगार बढ़ाने वाले हैं, इनसे आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि लौकिक भावों की उत्पत्ति राग-द्वेष-मोह से होती है। बाहरी विकाश में या मै-मेरा के चक्कर के कारण मनुष्य यह भूल हो जाता है कि वह कौन है, कहाँ से आया है, उसका स्वरूप क्या है, कहाँ उसे पहुँचना है? माया-जाल को बढ़ाने वाले जो भाव हैं, वे सब भवरूप हैं, त्याग्य हैं। अमल में तो मनुष्य का कर्तव्य राग-द्वेष में ऊपर उठना है, आत्मस्वरूप में स्थित होना है, भावों और विभावों में, अनुभावों और कुभावों से प्रतीत होना है, उसका लक्ष्य तो आत्मोपलब्धि है, सब प्राणियों के प्रति समरसता स्थापित करना है, अपने और जगत् के गुणों का विचार करना है। वह तो स्वयं कैसा ही है, और क्या कैंगना है। इनीलिये बनारसीदासजी ने कहा कि जब घट में सुबोध प्रकट होता है, तभी रस-विरस रूपी विषमता नष्ट होती है और शुद्ध आत्म-रस प्रकट होता है। आत्म-रस-लीनता में इंद्रियातीत स्वाद होता है—न उसमें ग्लानि होती है; न भय होता है, न विस्मय। सारी अथाहता, सारा भय, सारा क्रोध, समता-रस के पान में विलीन हो जाता है। ऐसी अनुभूति को ही उन्होंने 'रसकूप' कहा है, जो कभी रीता नहीं होता, कभी बदलता नहीं—मोक्षरूप होता है।

स्थायी भाव : एक तुलना :

भावरूप स्थायी भावों को हम यहाँ छोड़ दें। वह ऊँची चोख है, साहित्यातीत है, वह ज्ञानमयी अवस्था हो है। हम यहाँ उनके साहित्यिक, लौकिक या 'भवरूप' भावों के माथ ही

परम्परागत स्थायी भावों की संक्षेप में तुलना करेंगे। इस तुलना में हमारा उद्देश्य एक को हेय और दूसरे को उपादेय, या एक को निकृष्ट या दूसरे को उत्कृष्ट बताने का नहीं है। अधिकारी विद्वान् इस विषय में गहराई से वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं, और इन पर विचार होना ही चाहिये।

१. रति और शोभा—शृंगाररस का स्थायी भाव रति माना गया है। 'रति' का सीधा-सा अर्थ है प्रेम, अनुराग। उसका साहित्य में दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। कुछ भक्त कवियों ने उसके भक्तिपरक अर्थ करके पुत्र-प्रेम, गुरु-प्रेम, पत्नी प्रेम, भगवद्-प्रेम पर भी उसे घटा दिया है। लेकिन जब हम 'शोभा' की ओर ध्यान देते हैं तो प्रतीत होता है कि 'रति' से 'शोभा' शब्द शृंगाररस के लिये अधिक उपयुक्त है। शृंगार का सीधा अर्थ शोभा ही होता है। जब हम किसी को अस्तव्यस्त, डरावनी या रौनी शबल में देखते हैं, तब अनुराग या प्रेम होने पर भी एक प्रकार की अरुचि-सी होती है। अरुचि को हम हलकी 'छूणा' भी कह सकते हैं, शोभित या सजी वस्तु को देखकर मन में एक अनुराग उत्पन्न होता है। वर्षा-श्रुति में धरती की हरियाली को देखकर, सुन्दर फल-फूलों को निरखकर, प्रिय शब्दों को सुनकर जब प्रीति जागती है, तभी शृंगार-रस की निष्पत्ति मानी जानी चाहिए। शोभा बाहरी और भीतरी दो तरह की होती है। भीतरी शोभा को उज्ज्वलता या अनुराग कह सकते हैं, जिसके प्रति अनुराग होता है, उसकी बाहरी कुरूपता भी सुन्दर लगती है, बल्कि उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। हर माँ के लिये अपना बेटा सर्वसुन्दर होता है। बेटे के लिये भी माँ सबसे श्रेष्ठ होती है। शोभा में इस तरह श्रेष्ठता, असीमता, मानसिक अनुराग समाहित है।

पारमार्थिक दृष्टि में अपने और जगत् के गुणों का विचार करना, सबसे सुन्दरता का दर्शन करना शृङ्गार-रस का कारण है। यानी सम्पूर्ण सृष्टि में श्रेष्ठता, शोभनीयता का दर्शन और उसके प्रति असीम अनुराग ही शृङ्गार रस का कारण है।

२. हास और आनन्द—हास्य-रस का स्थायी भाव 'हास' माना गया है। 'हास' अर्थात् हँसी, हँसना, मुसकराना। लेकिन 'आनन्द' का अर्थ अधिक व्यापक है। हास का एक अर्थ प्रसन्नता है, परन्तु सदैव 'हास' प्रसन्नता में ही नहीं होता। परमवेदना या दुःखकी स्थिति में भी मनुष्य हँसने लगता है। किसी रचना में परम दाक्षिण्य, बीभत्स या भयानक संकट का वर्णन पढ़कर पाठक प्रायः हँस पड़ता है। पाठक या दशक का इस हँसी में पात्र की मूर्खता प्रधान होती है। हँसी, पीड़ा या दुःख के प्रति नहीं होती, होती है पीड़ा के कारण मूर्खता पर, अगर हास्य-रस की निष्पत्ति मूर्खता से होती है तो हास्यरस का स्थायी भाव 'मूर्खता' हो जायगी। लेकिन भीतर-ही-भीतर उस मूर्खता के प्रति वेदना भी होती है। व्यक्ति अगर निकट का है, तो शर्म भी लगती है। वास्तव में हास्य का मूल आधार है प्रसन्नता। इसीलिये बनारसीदासजी के अनुसार हास्य का स्थायी भाव आनन्द ठीक प्रतीत होता है। आनन्द ऊपर से अभिव्यक्त हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। मूरदासजी की रचनाओं में यशोदा भीतर-ही-भीतर प्रसन्न है, पर बाहर से कोप प्रकट कर रही हैं, रस्सी से कन्हैया को बांध भी रही है। असल में जिस कृति के पढ़ने से या देखने से आनन्द हो, उसीसे हास्य-रस की निष्पत्ति उचित है।

आत्मानन्द का उत्साह निरन्तर बनाये रखना, सबके लिये प्रसन्न रहना, सबमें आनन्द की अनुभूति करना, समस्त चराचर विश्व में मुसकुराहट का दर्शन करना अनन्त-सुख का बीज है। यह हास्य कभी क्षीण नहीं होता।

३. विस्मय और अथाहता—अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' माना गया है। अथाहता का दर्शन भी विस्मयप्रद होता है। लेकिन इसमें एक सूक्ष्म अन्तर है। छोटी-छोटी बातों का भी विस्मय होता है और यह प्रायः अज्ञानजन्य होता है। ऐसे विस्मय बालकों को खूब होते हैं। उनके लिये हर नयी वस्तु एक नमत्कार होती है। लेकिन 'अथाहता' एक भाव है, जो हर समय नहीं होता। किसी बात की, विचार की गहराई देखकर, बुद्धि की गहराई देखकर जो आश्चर्य होता है, उसीसे रस ग्रहण होता है। 'अथाहता' गहराई कहलाती है। साहित्य या काव्य में जब वर्णन अत्यन्त गहराई तक पहुँच जाता है, तब एक प्रकार का विस्मयप्रद आनन्द होता है और कविकी सूक्ष्मता के प्रति 'विचारकता-कल्पनाशक्ति' के प्रति अनुराग भी होता है। जादू के खेल भी अचरज में डाल देते हैं, पर उनसे 'रस' निर्माण नहीं होता।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के अनन्त बल का अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और मुख का चिन्तन करना, सृष्टि की अनन्तता का चिन्तन करना अद्भुत रस का आधार है। इसी व्यापक अर्थ में अथाहता को ग्रहण करना संगत होगा। अनन्तरूपिणी इस सृष्टि का कण-कण विस्मयप्रद है।

४. उत्साह और पुरुषार्थ—'वीर' रस का स्थान साहित्य में बहुत ऊँचा है। शृङ्गार के बाद वीर का ही स्थान है। युद्ध-वीरता, दान-वीरता, धर्म-वीरता, त्याग-वीरता, वाग्वीरता आदि की किनो ही रचनाएँ हमारे साहित्य में हैं, 'उत्साह' तो ऊँचा, लेकिन वीर-रस का स्थायी भाव होना चाहिये 'पुरुषार्थ'। 'पुरुषार्थ' में उत्साह ही नहीं, लगन और मस्तिष्कता भी है। 'उत्साह' की स्थायी भाव मानने का यह परिणाम हुआ है कि हमारा साहित्य युद्धवीरता और दानवीरता की प्रगतिस्था रह गया। हर प्रकार का पुरुषार्थ—सेवा का, वाणिज्य का, कृषि का, जन-जागृता का—सब वीर-रस में आता है। 'वीरता' हमारे साहित्य में केवल युद्ध-वर्णन तक सीमित होकर रह गयी। बड़े-बड़े मन्त्र-मुनि और राष्ट्र-कल्याण करनेवाले नेता 'वीर' ही थे। त्याग-वीरता, धर्मावीरता और धर्मवीरता के वर्णन या दृश्यों की ज्ञान रम या अध्यात्म काँट का मान लिया गया। एक और दृष्टि से भी विचार हो सकता है कि जहाँ उत्साह में आवेश होता है, वहाँ वीरता परम गंभीर वृत्ति है। वीरता में जितनी उदारता जरूरी है, उतना आवेश नहीं, उत्साह तो एरण्वरी बजा-बजाकर भी निर्माण किया जाता है, लेकिन वीरता आत्मगन होती है। उत्साह ठंडा पड़ जाता है, वीरता निरन्तर बढ़ती है!

पारमार्थिक दृष्टि से 'उदारता' वीर रस का मुख्य आधार है। अपने भीतर उठनेवाले समस्त संकुचित विचारों को त्यागकर जगत् के प्रति उदार वृत्ति रखना परम वीरता है। इस उदारता में कोमलता, सज्जनता भी रहती है। सच्ची वीरता में युद्ध नहीं, त्याग और समर्पण मुख्य होता है—यैम प्रधान होता है। उत्साह में—आवेश में आदमी ऊँच-नीच, भला-बुरा कदम उठा लेता है, पर 'वीर' का मन-प्राण मतेज, जागरूक, प्रसन्न और उदार होता है।

५. क्रोध और रुद्ध-मुण्डता—रोद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' माना गया है। बनारसी-दासजी ने रुद्ध-मुण्ड यानी रण-संघाम माना है। रुद्ध-भाव में जो आवेश और तेजी होती है, वह क्रोध में नहीं होती। 'क्रोध' के भीतर-भीतर अपार कसूर भी हो सकती है, म्लानि भी हो सकती है। भय भी हो सकता है, प्यार भी हो सकता है। रोद्र-रस की अनुभूति तब होती है जब हम कोई युद्ध-वर्णन पढ़ते हैं या युद्ध का दृश्य देखते हैं। हमारा शरीर भी फड़कने लगता है। वहाँ 'क्रोध' की कद

ही सम्भावना रहती है। क्रोध ऐसा भाव नहीं है जिससे रस-निष्पत्ति हो और मन उसमें रम जाये। क्रोध एक मानसिक विकार है, जो प्रायः अपनी ही कमजोरी पर होता है और वैयक्तिक होता है। ख़दता या रुण्ड-मुण्डता का दृश्य देखकर रस निर्माण होता है और वह सामूहिक होता है।

पारमाथिक दृष्टि से आत्मा पर छाये हुए अष्टकर्मों के आवरण को दूर करने के लिए जूझना ख़दता है। 'अष्टकर्म' जैन दर्शन का एक विभाग है। ये आठ कर्म आत्मा के गुणों को ढक देते हैं, इनके परमाणु सदा आत्मा पर छाये रहते हैं और सही दर्शन नहीं होने देते। यों कह सकते हैं कि अपनी पाप और पुण्य की परतों को काटना ही ख़दता है।

६. जुगुप्सा और ग्लानि—जुगुप्सा और ग्लानि में सूक्ष्म अन्तर है। ग्लानि तब होती है जब हम किसी पात्र को अनैतिक, अप्रामाणिक भ्रष्टा समाज-विरोधी कृत्य करते पाते हैं या लेखक वैसा भाव अंकित करना चाहता है। पात्र की कृति से जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, वही स्थायी भाव माना जाना चाहिए। उस पात्र की 'जुगुप्सा' यानी निन्दा हम नहीं करेंगे। निन्दा करने में तो स्वयं एक प्रकार का रस निर्माण होगा, जिसमें क्रोध और बदनाम करने की इच्छा भी रह सकती है। ग्लानि का विषय पात्र ही नहीं, वस्तु भी हो सकती है, स्थान भी हो सकता है। ग्लानि में कष्टा और मदाशयता रहती है।

पारमाथिक दृष्टि से अपने तन की 'अशुचिता' का चिन्तन करना, संसार-नसर्ग की अशुचिता का विचार करना भी भ्रम-रस का कारण है।

७. भय और चिन्ता—भयानक रसका स्थायी भाव भय माना गया है। किसी वर्गन को पढ़कर भयभीत होना, भय का वातावरण सड़ा हो जाना भयानक रस का कारण हो सकता है, लेकिन किसी पात्र के प्रति चिन्ता होना, उसके लिए सोच में पड़ना भी भयानक रस का कारण है। भय और चिन्ता का भेद स्पष्ट है। हम एक कहानी पढ़ते हैं और किसी पात्र के प्रति हमारे मनमें चिन्ता उत्पन्न हो जाती है, इसमें भय नहीं है। भय आक्रामक होता है। हम भयभीत हो सकते हैं, परन्तु तब जब यह घ्राणका हो कि उसका कारण हमसे सम्बन्धित है। रामायण के रावण से हमें भय नहीं होता, यद्यपि भयोत्पादक प्रसंग बहुत हैं। हाँ, हनुमान के लंका पहुँचने पर चिन्ता अवश्य पाठक को हो जाती है कि अब क्या नहीं, क्या होगा। वहाँ हमारे मन में भयकी लहर दौड़ जाती है कि अब सीता का क्या होगा।

पारमाथिक दृष्टि से अपने सांसारिक स्वरूप का, जन्म-मरण के दुःखों का विचार करना इसमें आता है। संसार को भयानकता का विचार करना और अपने जन्म-मरण का विचार करना भयानक रस का कारण है। संसार अनेक दुःखों से भरा है, जन्म-मरण का भी दुःख है। दुःखों का विचार करना आत्मीक दृष्टि से भयानक रस का कारण है।

८. शोक और कोमलता—कष्ट रस का स्थायी भाव शोक माना गया है। बनारसी-दासजी ने 'कोमलता' कहा है। कष्ट रस का आधार कोमलता, सहानुभूति, सरलता है, न कि शोक। शोक तो तब होता है जब कोई हानि हो जाती है। उसमें कोमलता नहीं होती। किसी दीन-हीन, अपाहिज का वर्णन पढ़कर मन में कष्टा, कोमलता जाग्रत होती है; न कि शोक।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि जब 'शोक' और 'कष्टा' नामों पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट लक्षित होता है कि शोक-भाव तमोगुणमय है और कष्ट सत्त्वगुण-सम्पन्न।

शोकभाव अपने ऊपर पड़नेवाली विपत्ति से दृष्टा करता है, किन्तु रस रूप में परिणत होने पर वह 'करुणा' का रूप धारण कर लेता है।" इससे भी स्पष्ट है कि शोक और कोमलता में कितना अन्तर है। कोमलता सात्त्विकगुण-सम्पन्न वृत्ति है। कोमलता की वृत्ति दूसरे के लिये सहायक बनने वाली सात्त्विक वृत्ति है। कोमल हृदय में ही करुणा का निवास होता है।

इस पर यों भी विचार कर सकते हैं कि हमने एक ऐसा वर्णन पढ़ा कि डकैती में एक घर तबाह हो गया। परिवार के लोग शोकाकुल हो सकते हैं, पर कोमल हृदय व्यक्ति उनकी मदद को पहुँच जायगा। जैनशास्त्रीय भाषा में शोक आर्तध्यान है और कोमलता धर्मध्यान है। 'शोक' मनको चेतना-शून्य बना देता है, जब कि कोमल मन सेवा को दौड़ पड़ता है।

पारमाधिक दृष्टि से बनारसीदासजी ने 'समरसता' का उल्लेख किया है। सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मीयपद्मवृत्ति, समरसता रखना, करुण-रस का आधार है। सब प्राणियों के प्रति समरसता ऊँची सात्त्विकता है।

६. निर्वेद और माया-अग्रचि :—बनारसीदासजी ने शांत-रस को मूल रस या रसों का नायक कहा है; क्योंकि परम-शांति ही मानवात्मा का लक्ष्य है। जिन प्रयोगों को पढ़कर पाठक के मन में माया के प्रति, जगत् के प्रति, धन-दौलत के प्रति, मान-अभिमान के प्रति अग्रचि ही जाती है, वही अग्रचि में शांत-रस का आधार है। निर्वेद का एक अर्थ स्त्री-पुरुष-नपुंसकभेदकता से शून्य अवस्था है। सामान्यतया निर्वेद उदासीनता के अर्थ में आता है, आध्यात्मिक या वैराग्य-प्रधान साहित्य के पढ़ने से संसार के प्रति उदासीनता हो जाना शांत-रस का कारण माना गया है, लेकिन ऐसी उदासीनता स्थायी भाव नहीं हो सकती। वृद्धावस्था, अकुशलता, अहंकार, अज्ञान, भ्रातृस्य आदि के कारण भी उदासीनता आती है। इसमें शांत-रस की निष्पत्ति बिलकुल असम्भव है।

पारमाधिक अर्थ में हठ वैराग्य ही शांत-रस का कारण बताया है। बनारसीदासजी के मत से यही एक ऐसी अवस्था है जहाँ जाकर रस-विरस की विषमता समाप्त हो जाती है।

साहित्य और अध्यात्म :

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य अध्यात्म से अलग ही रहना चाहिए। अध्यात्म में जीवन-मूल्यों का विचार अलग ढंग से किया जाता है और साहित्य में जीवन की यथार्थता प्रधान होती है। साहित्य में कलात्मक पक्ष प्रधान होता है, अध्यात्म में नीति-पक्ष। साहित्य में नीति को भी स्थान है, पर विकारों, वृत्तियों और प्रत्येक परिस्थिति को भी स्थान है, अध्यात्म में इसकी छूट नहीं है। साहित्य में शरीरांगा का, वृत्तियों का सरस वर्णन रह सकता है, पर अध्यात्म के नैतिक मूल्य इसकी इजाजत नहीं देंगे। तब बनारसीदासजी ने रसों के लिये जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रशस्त किया है, उसका क्या मूल्य है ?

यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिए, लेकिन प्रायः उठता रहता है, इसका मतलब यह है कि 'अध्यात्म' को जीवन-व्यवहार की चीज नहीं समझा जाता, बल्कि वह इस कोटि की चीज है जिसे गृहत्यागी, संन्यासी ही अपना सकते हैं। मानो 'साहित्य' वह है, जो केवल रंजन के लिए है। यों तो 'अध्यात्म' समर्थक भी कह सकते हैं कि वह साहित्य साहित्य ही नहीं है जो जीवन को सदाचार की ओर न मोड़े, ऊँचा न उठावे ! 'साहित्य' शब्द स्वयं हित-सहित है। मनुष्य का, समाज का हित साधने की सामर्थ्य साहित्य में तभी आ सकती है, जब उसमें समाज को ऊँचा

उठाने की क्षमता हो। शक्ति केवल शब्दों में नहीं होती। लेकिन जब हम शब्दों को 'ब्रह्म' संज्ञा देते हैं, उनके अर्थों में सत्य-शिव-सुन्दर का दर्शन करते हैं, तभी उनमें वह शक्ति आती है। चरित्रवाम् और हठव्रती पुरुष के बचनों की शक्ति से सभी परिचित हैं।

'साहित्य' में साहित्यकार को कला-वर्णन या कला-चित्रण की छूट होनी चाहिये और इसके बिना साहित्य की सार्थकता नहीं रहेगी, यह कहने वाले इस पर भी तो विचार करें कि इस प्रकार की छूट के किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहते हैं? साहित्यकारों ने मौज में आकर ऐसी छूटें ली हैं, लेकिन परिणाम यह है कि वह साहित्य समष्टिगत नहीं रह जाता, और उसके प्रति गर्हा या भनादर भी व्यक्त होता है, एकांत में, अकेले में ऐसा साहित्य पढ़ा जाता है, पर उसका जो रस ग्रहण होता है, वह जीवन को पतन की ओर ही ले जाने में सहायक होता है। एक कवि ने बड़े पते की बात कही है :—

राग उदै जग ग्रंथ भयो, सहज सब लोगन लाज गमाई।
 सोख बिना नर सोख रहै, विषयाविक सेवन की सुधराई।
 तापर और रचै रस-काव्य, कहा कहिये तिन की निठुराई।
 ग्रंथ-अमूझन की अंखियान में, झोंकत है रज राम-दुहाई॥

इसी तरह बनारसीदास जी ने भी वाणो-विलास करने वाले कवियों की कला-चातुरी पर व्यंग करते हुए कहा है :—

मांसकी गरंथि कुछ कंचन-कलस कहै,
 कहैं मुखचन्द, जो मलैषमा को घरू है।
 हाड़ के दसन आहि हीरा-मोती कहै ताहि,
 मांसके अधर-आँठ कहै बिब फरू है॥
 हाड़ दण्ड-भुजा कहैं, कीलनाल काम-धुजा,
 हाड़ ही के रंभा-जंघा कहै रंभातरू है।
 यों ही झूठी जुगति बनावैं और कहावैं कवि,
 ऐते पर कहैं, हमें सारदा को बरू है॥

यथार्थ में ऐसे कवि अभिमान में मत्त रहते हैं और विषय-विलास की मुक्त तालीम देने का काम करते हैं, इसी को वे शारदा का बर समझते हैं।

साहित्य अपने में एक पूरा शास्त्र है और उसके अपने नियम-विधान-पद्धतियाँ हैं। उसमें रस, सौंदर्य, चतुरता, व्यंजना, अलंकार, आदि सबका अपना स्थान और महत्व है। लेकिन समग्र रूप में 'साहित्य' कोई सीमित अंग या अवयव नहीं है, जिसे जीवन से अलग किया जा सके, अध्यात्म जीवन का अंग है और साहित्य भी, बल्कि यो कहा जाय कि अध्यात्म की प्रेरणा जगाने के लिए ही साहित्य का माध्यम अंगीकार किया जाना जरूरी है, तो अतिशयोक्ति न होगी। साहित्य में तो इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान और भूगोल जैसे विषय भी अंतर्भूत हैं और होने चाहिये।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो साहित्य को देह का द्वार बताया है जहाँ कि राम-नाम का मणि-दीप रखा जाना चाहिए, इसलिये कि भीतर-बाहर प्रकाश पड़े यह शब्द-बन्दना नहीं तो क्या है?

कोरा साहित्य तो 'दिमागी ऐयासी' मात्र होगा। शरीर के अंगों की सुन्दरता बढ़ानेवाली उपमाओं को यथास्थान सजाकर हम जिस नायिका की भूमिका खड़ी करेंगे, वह विकृत ही होगी !

हाँ, अध्यात्म की नीरस—रस-विहीन नहीं रह जाना है। उसमें साहित्य की सुगन्धि, उसकी सीरम होनी चाहिये, नहीं तो वह अध्यात्म ग्राह्य ही नहीं होगा। अध्यात्म को परलोक की, वन-जंगल की चीज समझने का ही यह परिणाम हुआ है कि वह समाज में से निकलकर जंगलवासी बन गया है और समाज उसे दूर से आदर भर देना जानता है। अगर 'अध्यात्म' हमारे नित्य जीवन का, सम्पूर्ण व्यवहार का अंग रहता तो हम देखते कि साहित्य उसका अनुगामी होता और वह समाज में मन्दिर के कलश का स्थान ग्रहण करता।

हम यहाँ आदर्श और यथार्थ के भ्रमेले में नहीं पड़ेंगे। कहना सिर्फ यही है कि वैषयिक अभीष्टाएँ तो प्रकृत ही हैं, उनको साहित्य के माध्यम से उभारकर जीवन का महत्त्व गिरे, ऐसी कलाका विकास हम चाहते हैं क्या ? ढाल की ओर पानी को बहाने का प्रयास नहीं करना होता। प्रयास और पुस्तार्थ ऊपर को ओर बढ़ाने में ही होता है।

कविवर बनारसीदासजी की साहित्य-माधना मनुष्य के स्वभाव को उद्देश्य में रखकर हुई है। मनुष्य का स्वभाव आज अनेक विकारों, भावों, दबावों की परतों से आविरित है, वह पर-द्रव्य और पर-भावों का दास बन गया है। इन्द्रियों और मन की गुलामी, उसका स्वभाव नहीं है, पराधीनता है। इससे मुक्त होकर ही वह अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है। यही बात उन्होंने पद-पद पर कही है—

“चेतन रूप अनूप अमूरति, मिद्व-समान सदा पद मेरो।

मोह-महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम बेरो ॥”



आचार्य वीरसेन की धवलाटीका

प्रो० उदयचन्द्र एम० ए०

[...आचार्य वीरसेन के सम्मुख सूत्रों तथा उनके व्याख्यानों में विरोध पाया जाता था। कहीं-कहीं सूत्रों पर आचार्यों का कोई मत उपलब्ध नहीं था। ऐसे स्थलों में वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनों द्वारा निर्णय किया। और कहीं-कहीं अपने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं...]

भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण तथा उद्धार के लिए जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था और गौतम गणधर ने जिनका द्वादशांग वाणी के रूप में संकलन किया था उन सिद्धान्तों के पठन-पाठन और श्रवण की परम्परा गुरु-शिष्य परम्परानुसार कई-सी वर्षों तक मुक्ताग्र ही चलती रही। किन्तु काल के प्रभाव से श्रुति-स्मृतिधारी आचार्यों का क्रमशः ह्रास होता गया और तदनुसार श्रुत का प्रायः बहुभाग विस्मृति के गर्भ में समा गया। ऐसे समय में, जब कि द्वादशांग श्रुत का प्रायः बहुभाग विस्मृति के गर्भ में समा गया था, आचार्य धरसेन हुए, जिन्हें द्वादशांग का कुछ भाग ज्ञात था। उन्होंने उस अमूल्य ज्ञान को सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव किया। तब धरसेन ने पुण्यदन्त और भूतबलि नामक दो शिष्यों को द्वादशांग का अवशिष्ट भाग पढ़ाया। ये दोनों ही षट्खण्डागम के रचयिता हुए। पुण्यदन्त और भूतबलि ने जिन सिद्धान्तों को अपने गुरु से सीखा था उन्हीं को मूर्ता में निबद्ध किया, जो षट्खण्डागम के नाम से प्रसिद्ध हुए। षट्खण्डागम की रचना ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य में हुई है। हम आचार्य धरसेन, पुण्यदन्त और भूतबलि के अत्यन्त श्रद्धा हैं, जिनके द्वारा हमें षट्खण्डागम के रूप में तीर्थंकरों की द्वादशांग वाणी का अवशिष्ट ज्ञान आज भी सुलभ हो रहा है।

षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेन :

इन्द्रनन्द के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम पर छह टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें से 'धवला' अन्तिम है। यह टीका आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई है और इसका परिमाण ७२ हजार श्लोक है। प्रस्तुत निबन्ध का यही मुख्य विषय है। वीरसेन ने षट्खण्डागम पर धवला-टीका ही नहीं लिखी, किन्तु कषायप्राभृत पर २० हजार श्लोक-प्रमाण जयधवला-टीका भी लिखी है। धरसेनाचार्य के समकालीन आचार्य गुणधर हुए हैं, जिन्होंने कषायप्राभृत की रचना की थी। इस पर यतिवृषभ आचार्य ने बृह्णिमूत्र रचे थे। इन्हीं पर वीरसेन ने जयधवला-टीका लिखी है। लेकिन उसे वे पूरा नहीं कर सके और उनके सुप्रीथ शिष्य जिनसेन ने जयधवला का शेष भाग लिखा, जिसका परिमाण ४० हजार श्लोक है। इस प्रकार जयधवला का कुल परिमाण ६० हजार श्लोक है। वीरसेन ने ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला और २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला अर्थात् कुल ९२ हजार श्लोक

प्रमाण टीका का निर्माण २१ वर्ष में किया था । इससे उनकी सूक्ष्म बुद्धि, गहन पाण्डित्य और विशाल स्मृति का पता चलता है ।

वीरसेन का व्यक्तित्व :

वीरसेन सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण थे । यह बात धवला की अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होती है । यथा—

सिद्धंत-छन्द-जोइस-वायरण-प्रमाणसत्य-सिद्धुरोग ।

भडारण टीका लिहिया एसा वीरसेरोग ॥ ५ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्रभृत की टीका जयधवला का एक-तिहाई भाग वीरसेन ने लिखा है और दो-तिहाई भाग जिनसेन ने लिखा है । जिनसेन ने जयधवला की प्रशस्ति में वीरसेन की साक्षात् केवली के समान समस्त विश्व का दृष्टा बतलाया है । यह भी कहा गया है कि उनकी सर्वार्थगामिनी स्वाभाविक प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता में किसी मनीषी को कोई शंका नहीं रही ।^१

जिनसेन ने आदिपुराण में वीरसेन की स्तुति की है । वहाँ उनकी लोकविज्ञता, कवित्व-शक्ति, और वाचस्पतिक के समान वाग्मिता की प्रशंसा की गई है । उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धों का कर्ता बतलाया गया है और उनकी धवला भारती को समस्त-भुवन-व्यापिनी कहा है ।^२

धवला टीका से प्रतीत होता है कि वीरसेन के सामने मूत्रग्रन्थों के अनेक संस्करण थे और उनमें कई पाठभेद भी थे । उन्होंने मूत्रग्रन्थों के विभिन्न पाठभेदों तथा पाठभेद-जन्य मतभेदों का यथासंभव उल्लेख किया है । तथा मूत्र का लक्षण निम्नप्रकार बताया है—

मुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च ।

सुदकेवलिया कहियं अभिष्णदसपुम्बिकहियं च ॥

—वग्गसाखण्ड भाग १-३ पृ० ३८१ ।

मूत्र वह है जिसका कथन गणघर, प्रत्येकबुद्ध, भूतकेवली और अभिज्ञदशरूखों ने किया हो । कहीं-कहीं पर षट्सण्डागममूत्रों में कषायप्राभृत आदि अन्य मूत्रों से विरोध पाये जाने पर वीरसेन ने निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट करके यह बतलाया है कि कौन मूत्र है और

१. श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृष्ठप्रथ; । पारदृशवाचिबिष्वानां साक्षादिव स केवली ॥१६॥

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनोविणुः ॥२०॥

२. लोकवित्त्वं कवित्वं च भट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥

सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मनः सरसि स्थेयाम् मृदुपादकुशेयम् ।

धवलां भारती यस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलाम् । धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम् ॥

कौन भ्रमूत्र, इसका निर्णय आगम में निष्णात भाचार्य करें। हम इस विषय में निर्णय करने में असमर्थ हैं, क्योंकि हमें इसका कुछ भी उपदेश नहीं मिला है।^१

कहीं-कहीं पर षट्खण्डागम से विरोधी सूत्रों का व्याख्यान यह कहकर कर दिया है कि सूत्र और भ्रमूत्र का निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी अथवा केवलज्ञानी ही कर सकते हैं। किन्तु न तो वर्तमान काल में पूर्वधारी और केवलज्ञानी हैं और न उनके पास से सुनकर आये हुए भी कोई पुरुष है। ऐसी स्थिति में सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट होने के भय से भाचार्यों की तो दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए।^२

कहीं-कहीं पर सूत्रों पर उठाई गई शंका के विषय में वीरसेन ने यहाँ तक कह दिया है कि इस विषय की पूर्णतः छ गौतम से करना चाहिए। हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कहा है।^३

कहीं-कहीं पर वीरसेन ने षट्खण्डागम के सूत्रों में अन्य सूत्रों से विरोध का समाधान यह कह कर भी किया है कि यद्यपि यहाँ विरोध सत्य है फिर भी एकान्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि वास्तव में यह विरोध सूत्रों का नहीं है किन्तु इन सूत्रों का जिन्होंने संकलन किया है उनके सकलश्रुत का ज्ञाता न होने से उनके द्वारा विरोध आजाना संभव है।^४

कहीं-कहीं सूत्रों पर भाचार्यों का कोई मत उपलब्ध नहीं था। ऐसे स्थलों में वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार, परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य भाचार्यों के वचनों द्वारा निर्णय किया है।^५

ध्वला में षट्खण्डागम के साथ अन्य सूत्रों और उनके व्याख्यानों में विरोध के प्रतिरिक्त एक और विरोध का उल्लेख पाया जाता है जिसे वीरसेन ने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति के

१. तदो तेहि सुतेहि एदेसि सुतागं विरोहो होदि त्ति भगिदे जदि एवं उवदेसं लद्वृण इदं सुतं इदं चामुतमिदि आगम-गणउणा भणुतु, ए च अम्हे एत्थ वोत्तुं समत्था भलद्धोवदेसत्तादो।

—ध्वला-टीका

२. होदु राम तुम्हेहि वुत्तस्स सच्चत्तं, बहुगमु सुतेसु वणप्फदीणं उवरि गिगोदपदस्स भणु-वलंभादो। चोदसपुव्वधरो केवलणाणी वा, ए च वट्ठमाणकाले ते अत्थि। ए च तेमि पासे सोदूणागदा वि संपट्ठि उवलम्भन्ति। तदो थप्पं काऊण वे वि सुताणि सुत्तासायण-भोरुहि भायरिण्ठि वक्खणायेव्वणि। —ध्वला-टीका

३. सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण रिण्ठिद्वा ? गोदमो एत्थ पुच्छेय्वदो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगो-दपदिद्दिदाण वणप्फदिसण्णं रोच्छदि त्ति तस्म अभिप्पासो कहिमो। —ध्वला-टीका

४. कसायपाहुडसुत्तेरोदं सुत्त विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं, विरुज्झइ, किन्तु एयंतगहो एत्थ ए कायव्वो। कथं सुत्ताणं विरोहो ? ए, सुत्तोवसंधाराणमसवलसुदधारयाइरियपरंतताणं विरोधमभव-दंमणादो।

—ध्वला-टीका।

५. कधमेदं एण्वदे ? गुरुवदेसादो। सुत्ताभावे सत्त चेव खंडाणि कीरंति त्ति कथं एण्वदे ? ए, भाइरियपरम्परागदुवदेसादो। सुत्तेण विणा कुदो एण्वदे ? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो।

—ध्वला-टीका।

नाम से बतलाया है। ये दो विभिन्न मान्यतायें थीं, जिनमें से वीरसेन ने दक्षिण-प्रतिपत्ति को स्वीकार किया है। क्योंकि उन्होंने उसे सरल, स्पष्ट और आचार्य-परम्परागत बतलाया है तथा उत्तर-प्रतिपत्ति क्लिष्ट, वाम और आचार्य-परम्परागत नहीं है, ऐसा कहा है। उदाहरणस्वरूप उपशमश्रेणी में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ३०४ और क्षपकश्रेणी में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ६०८ बतलाकर यह कहा है कि यह उत्तर-प्रतिपत्ति है। पूर्वोक्त संख्या में से उपशमश्रेणी में ५ कम तथा क्षपकश्रेणी में १० कम करने पर दक्षिण-प्रतिपत्ति होती है।^१

वीरसेन ने कुछ विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

आभिनवोपेक्षिक ज्ञान (मतिज्ञान) के चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अबाय और धारणा। अवग्रह के दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयभूत स्थिर और स्थूल वस्तु को अर्थ कहते हैं और अव्यक्त शब्दादि की व्यंजन कहते हैं। अर्थ का जो अवग्रह रूप ज्ञान होता है वह अर्थावग्रह है और व्यंजन का जो अवग्रहरूप ज्ञान होता है वह व्यंजनावग्रह है। अर्थात् व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रह और अव्यक्त ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं। अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रियों और मन से होता है किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। चक्षु स्वल्प पुण्यपाद, अकलंक आदि शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह का उक्त और मन अप्राप्यकारी है तथा आचायो के अनुसार है। किन्तु वीरसेन ने अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह को एक स्वतंत्र व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अर्थावग्रह का ग्रहण अर्थावग्रह^२ है और प्राप्त अर्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह है।^३ विषय और इन्द्रिय के संयोग के बिना जो ग्रहण होता है वह अप्राप्त-ग्रहण है तथा संयोगजन्य ग्रहण प्राप्त-ग्रहण है। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की उक्त व्याख्या के अनुसार वीरसेन चक्षु और मन को केवल अप्राप्यकारी मानते हैं तथा शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार का मानते हैं। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने श्रेष्ठ युक्तियाँ भी दी हैं। द्वायेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय बारह योजन है। अतः इन इन्द्रियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुआ जीव नौ योजन की दूरी से ही गन्ध, रस और स्पर्श का ज्ञान करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार बारह योजन की दूरी से शब्द को ग्रहण करने में भी समर्थ होता है। यह देखने में भी आता है कि चौटियाँ अधिक दूरी पर स्थित पदार्थ के गन्ध का ज्ञान कर लेती हैं।

दर्शन और ज्ञान :

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन का अर्थ क्या है इस विषय ने मतभेद है। प्रचलित व्याख्या के अनुसार ज्ञान के पहले पदार्थ के आकार आदि को

१. के वि पुवुत्तापमाणं पंचूणं करेति । एवं पंचूणं वक्खमाणं पवाइज्जमाणं दक्खिण्णमाइरियपरंपरा-गममिदि जं वुत्तं होइ । पुवुत्तावक्खमाणमपवाइज्जमाणं वारं आइरियपरंपरा-अण्णमदमिदि णायव्वं ।... एसा उत्तर-पडिबत्ती । एत्थ दम अवण्णिदे दक्खिण-पडिबत्ती हवदि ।

धवला-टीका खण्ड १, भाग २. पृष्ठ ६२-९४ ।

२. अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः । ३. प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः ।

धवला-टीका खण्ड ५, भाग १-३, पृ० २२० ।

ग्रहण न करके जो सामान्य-ग्रहण होता है वह दर्शन है। और पदार्थ के आकार आदि के साथ जो ग्रहण होता है वह ज्ञान है। अन्य भाषायों ने दर्शन और ज्ञान की ऐसी व्याख्या की है। किन्तु वीरसेन इस व्याख्या से सहमत नहीं जान पड़ते। उन्होंने सामान्य पद से आत्मा का ग्रहण करके दर्शन का यह अर्थ किया है कि उपयोग की आत्म्यन्तर-प्रवृत्ति का नाम दर्शन^१ है और बाह्य-प्रवृत्ति का नाम ज्ञान है। किसी पदार्थ को जानने के पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि बाह्य पदार्थों का जानना ज्ञान है। इस प्रकार वीरसेन ने आत्मप्रत्यय को दर्शन और परप्रत्यय को ज्ञान कहा है।

गृहीतग्राही ज्ञान में प्रामाण्य-समर्थन :

प्रमाण रूप ज्ञान को अग्रहीतग्राही होना चाहिए या गृहीतग्राही ज्ञान में भी प्रामाण्यता हो सकती है, इस विषय में भाषायों में मतभेद रहा है। अकलंक आदि भाषायों ने प्रमाण को अग्रहीतग्राही माना है। किन्तु वीरसेन ने गृहीतग्राही ज्ञान में प्रामाण्यता का समर्थन किया है। उन्होंने ईहादि ज्ञानों के निरूपण के समय यह बतलाया है कि गृहीतग्राही होने से ईहादि ज्ञानों में अप्रामाण्यता की आशंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्णरूप से अग्रहीत अर्थ को ग्रहण करने वाला कोई भी ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है। गृहीत अर्थ को ग्रहण करना अप्रामाण्यता का कारण नहीं है, क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञानों में ही अप्रामाण्यता पाई जाती है^१।

इस प्रकार वीरसेन ने अनेक विषयों पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं।

वीरसेन का समय :

धवला की प्रशस्ति में धवला-टीका के समाप्त होने का समय वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र आदि के साथ दिया है तथा जगतुंगदेव और नरेन्द्रचूडामणि बोद्धराय नाम के राजाओं का उल्लेख भी किया है। उन्हीं के राज्य में धवला-टीका रची गई थी। अतः धवला की प्रशस्ति के अनुसार यह सुनिश्चित निष्कर्ष निकलता है कि धवला की समाप्ति शक सम्वत् ७३८, कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार ८ अक्टूबर सन् ८१६ को हुई थी। अतः वीरसेन का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

नामकरण :

वीरसेन ने अपनी टीका का नाम धवला क्यों रखा, इसका कोई कारण तो नहीं बतलाया है, लेकिन धवला नाम का उल्लेख प्रशस्ति में अवश्य किया है। धवला-टीका कार्तिक मास के धवल (शुक्ल) पक्ष की त्रयोदशी को समाप्त हुई थी। संभवतः इसी कारण इसका नाम धवला रख दिया हो। धवल का अर्थ श्वेत के अतिरिक्त शुद्ध, विशद और स्पष्ट भी होता है। इन गुणों से युक्त होने के कारण भी धवला नाम संभव है। यह टीका अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल में पूर्ण हुई थी।

१. अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्बुवगमादो।

—धवलाटीका खण्ड ५, भाग १-३ पृ० २०७।

२. न गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम्, सर्वात्मना अग्रहीतग्राहिणो बोधस्यानुपलब्धात् । न च गृहीतग्रहणमप्रामाण्यनिवन्धनम्, संशयविपर्ययानध्यवसायजातेरेव अप्रामाण्यत्वोपलब्धात् ।—धवला टीका खण्ड ५, भाग १-३, पृ० २१९।

इनकी अनेक उपाधियाँ थी, जिनमें से एक उपाधि अतिशय धवल भी थी। संभवतः यह उपाधि भी धवला-नामकरण में निमित्त कारण हुई हो। चाहे धवला नाम का कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन यह टीका अपने नाम के अनुरूप ही समस्त भुवन को चिरकाल तक धवल करती रहेगी।

वीरसेन के सामने उपलब्ध साहित्य :

वीरसेन ने धवला टीका में अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख करके उनमें से अनेक अवतरण दिए हैं। इसके अतिरिक्त नामोल्लेख के बिना भी गद्य और पद्य के अनेक उद्धरण दिए हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उनके सामने विशाल जैन साहित्य विद्यमान था और उसका उन्हें पूर्ण ज्ञान था।

टीका की भाषा :

जैनागम और दर्शन के व्याख्याताओं ने सदा ही लोक-भाषा का समुचित आदर किया है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया था। अर्धमागधी में आधे शब्द मगध की भाषा के तथा आधे इतर प्रान्तों की भाषा के रहने थे, जिसमें सब लोगों को समझने में सुविधा हो। आजकल अर्धमागधी को प्राकृत का ही एक प्रकार माना जाता है। महावीर के बाद भी जैन परम्परा में प्राकृत का प्राबल्य रहा है। इसी परम्परा के अनुसार जैनागम के ऊपर सर्वप्रथम-ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना भी प्राकृत में ही हुई थी। वीरसेन के सामने जो जैनसाहित्य विद्यमान था उसका अधिकांश भाग प्राकृत में ही था। इसी कारण वीरसेन की टीका का बहुभाग प्राकृत में ही है। तथा कुछ भाग संस्कृत में है। इसका कारण यह मान्य पड़ता है कि वीरसेन के समय में संस्कृत का प्रचार बढ़ चला था और प्राकृत का प्रचार कम होने लगा था। अतः वीरसेन ने संस्कृत को भी अपनी टीका में स्थान दिया है। इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत और संस्कृत में सहस्रों ग्रन्थ लिखे गए। पुनः जब से संस्कृत का प्रचार कम हुआ और हिन्दी की प्रतिष्ठा होने लगी तब से हिन्दी में भी आचार्य-परम्परा के अनुसार ग्रन्थों का निर्माण होने लगा। हिन्दी में मौलिक निर्माण के अतिरिक्त प्राकृत और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद भी अधिक मात्रा में हुआ है और हो रहा है।

उपसंहार :

आज से लगभग ५० वर्ष पहले पुष्पदन्त, भूतबलि और वीरसेन की कृतियाँ केवल दर्शन की ही वस्तु थी और उनका दर्शन भी सुलभ नहीं था। किन्तु हमारे सोभाग्य से समाज के कुछ भूखण्ड्य श्रीमानों और धीमानों के सतत परिश्रम एवं त्याग के फलस्वरूप आज उक्त कृतियों का प्रायः समस्त भाग हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो गया है। केवल जयधवना का कुछ भाग प्रकाशित होने की शेष रहा है। अतः भगवान् महावीर के द्वारा रचित, गौतम गणधर के द्वारा प्रणीत धरसेन द्वारा संरक्षित तथा पुष्पदन्त, भूतबलि और वीरसेन के द्वारा रचित जिनागो की आज एक साधारण जन भी हृदयङ्गम कर सकता है।

परीक्षामुख : एक अनुशीलन

श्री सुदर्शनलाल एम० ए०

शोध-छात्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तत्त्वार्थ के प्रतिपादन में जो स्थान जैन-धर्म के तत्त्वार्थसूत्र का, ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में ब्रह्मसूत्र का, योगशास्त्र के विवेचन में पातञ्जल-योगसूत्र का और न्यायशास्त्र के न्याय-निरणय में गौतम के न्यायसूत्र का है, वही स्थान एवं प्रसिद्धि जैन न्याय के आद्य सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख की भी है। कहीं-कहीं पर परीक्षामुख के सूत्र गौतम के न्यायसूत्र से अधिक लघु, तर्कसंगत एवं सुस्पष्ट अर्थ से समन्वित दृष्टिगोचर होते हैं।

विषय-परिचय :

परीक्षामुख में मुख्यरूप से प्रमाण और प्रामाण्यभास का २१२ सूत्रों द्वारा, जो ६ परिच्छेदों में विभक्त है, विशद एवं तर्कसंगत चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थारम्भ में एक कारिका^१ द्वारा प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन बताया गया है तथा ग्रन्थ-परिसमाप्ति के अवसर पर भी एक कारिका^२ दी गई है, जिसमें 'बाल' शब्द से अपनी अल्पज्ञता एवं विनयशीलता का परिचय देते हुए परीक्षामुख को हेयोपादेयत्व का निर्णय करने के लिए एक दर्पण बताया गया है। ग्रन्थ में विषय-प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है :

१. प्रथम परिच्छेद में १३ सूत्रों द्वारा प्रमाण के स्वरूप तथा उसके प्रामाण्य का निश्चय किया गया है।

२. द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रमाण के दो भेद करके प्रत्यक्ष के मुख्य और सांख्य-हारिक दोनों भेदों का विचार १२ सूत्रों में किया गया है।

३. तृतीय परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण के पाँचों भेदों (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और भागम) का विवेचन १०१ सूत्रों में किया गया है। इसमें न्याय के प्रमुख अङ्ग अनुमान का विशाल वंश-वृक्ष भी समुपस्थित किया है। अतः यह परिच्छेद सबसे बड़ा हो गया है।

४. चतुर्थ परिच्छेद में ९ सूत्रों द्वारा प्रमाण का विषय सामान्य-विशेषात्मक वस्तु बतलाकर उसका समेद वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

१. प्रामाणादर्शसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमत्वं लघीयसः ॥ १ ॥

२. परीक्षामुखमादर्श हेयोपादेयत्ववयोः।

संविदे माहसो बालः परीक्षादल्लवद्बध्यधाम् ॥ २ ॥

५. पंचम परिच्छेद में केवल ३ सूत्र हैं, जिनमें प्रमाण के उभयविध फल ((१) साक्षात्फल-अज्ञाननिवृत्ति तथा (२) परम्पराफल-हानोपादानोपेक्षाबुद्धि) को कहकर उसे प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न बतलाया गया है।

६. षष्ठ परिच्छेद में प्रमाणाभासों (स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास) का सविस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अन्त में जय-पराजय आदि की भी जैन दृष्टि से व्यवस्था की गई है। इस परिच्छेद में कुल ७४ सूत्र हैं।

इस तरह इस परीक्षामुख के प्रायः सभी उपादानों—मौलिक विषयों पर प्राञ्जल एवं विशद भाषा में बड़ी कुशलतापूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसीसे संभवतः आचार्य प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख को गम्भीर, निखिलार्थप्रकाशक, निर्मल, शिष्य-प्रबोध-प्रद एवं अद्वितीय रचना कहा है।^१

उद्गम :

इस परीक्षामुख को आचार्य अकलङ्क के वचनरूपी समुद्र में मथकर निकाला गया न्याय-विद्यामृत कहा गया है।^१ वस्तुतः परीक्षामुख का मूल उद्गम-स्रोत आचार्य अकलङ्क के न्याय-ग्रन्थ (अष्टमती, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह एवं मिद्धिविनिश्चय) है। कुछ अंशों में आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थ (प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि) भी हैं।^१

परीक्षामुख जितना मरल है उतना ही गम्भीर है। यही कारण है कि जैन न्यायशास्त्र में प्रवेश के लिए प्रथमतः इसका अध्ययन किया जाता है। तदुपरान्त इस पर लिखी गई टीकाओं के आधार पर इसके गहन अर्थ का स्पष्टीकरण अवगन किया जाता है।

टीकाएँ :

इस परीक्षामुख की कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं। उनमें सर्वप्रथम आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित १२ हजार श्लोक प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशाल टीका है, जिसके अध्ययन से समस्त न्यायशास्त्र का सम्यग्ज्ञान हो जाता है।^१ इसके ऊपर मैं हिन्दी टीका लिख रहा हूँ जिसका प्रथम परिच्छेद पूर्ण हो चुका है। उसमें मैं इस ग्रन्थ पर विशद विचार करूँगा। इसके उपरान्त १२वीं

१. 'गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्।

यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः॥'

२. 'अकलङ्कवचोम्भोपेक्षध्रे येन धीमता।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने।'—प्रमेयरत्नमाला श्लो० २।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेयकमलमार्तण्ड के प्रारम्भ में कहा है—

'श्रीमदकलङ्कार्योऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तदव्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदर्थं-मुदघृत्य प्रतिपादयितुं कामतत्परिज्ञानाऽप्रतुहेच्छाप्रैरितस्तदर्थप्रतिपादनप्रयत्नं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह।'

३. इस सम्बन्ध में प्रो० दरबारीलालजी कोठिया का वह शोधपूर्ण निबन्ध दृष्टव्य है जो अनेकान्त (वर्ष ५, किरण ३, ४) तथा आतपरीक्षा की प्रस्तावना में प्रकाशित है। उन्होंने इसमें ग्रन्थों की तुलना द्वारा परीक्षामुख के मूल-स्रोतों की खोज प्रस्तुत की है।

४. विशेष—प्रमेयकमलमार्तण्ड-भूमिका—पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य।

शताब्दी के आचार्य लघु अनन्तवीर्य ने 'प्रमेयरत्नमाला' (जो 'परीक्षामुखपञ्जिका' एवं 'परीक्षामुख-लघुवृत्ति' के भी नाम से प्रसिद्ध है) नाम की प्रसन्न और अलित शैली वाली टीका लिखी है, जिस पर कालान्तर में 'अर्थप्रकाशिका' और 'न्यायपरिणीतिका' नामकी दो टीकाएँ लिखी गईं । इसके उपरान्त नम्यन्याय के प्रचार को देखकर आचार्य चारुकीर्ति ने जैन न्याय को उसी शैली में ढालने के प्रयत्न स्वरूप 'प्रमेयरत्नालंकार' नाम की टीका लिखी, जो 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'प्रमेयरत्नमाला' को एक कड़ी में जोड़ने का उपक्रम करती है । चतुर्थटीका 'प्रमेयकण्डिका' है जो 'परीक्षामुख' के प्रथम सूत्र (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) पर पाँच स्तवकों में श्रीच्छान्तिवर्णि द्वारा लिखी गई है ।^१

महत्त्व और ग्रन्थ-वैशिष्ट्य :

उत्तरकाल में परीक्षामुख का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि परवर्ती अनेक आचार्यों के ग्रन्थ परीक्षा मुख के उपजीव्य बने हैं । हेमचन्द्राचार्य की 'प्रमाणमीमांसा' और वादिदेवसूरि का 'प्रमाणनयतत्वालोकालंकार' ये दो ग्रन्थ तो परीक्षामुख के विशेष आभारी हैं ।

प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, पण्डिताचार्य चारुकीर्ति, शान्तिवर्णी आदि कई विद्वान् उनके प्रमुख टीकाकार हो हैं । न्यायदीपिकाकार आचार्य अभिनवधर्मभूषण ने न्यायदीपिका में परीक्षा-मुख के सूत्रों को सादर उद्धृत किया है ।^२ एक स्थल पर तो परीक्षामुखसूत्रकर्ता के लिए 'भगवान्' और 'भट्टारक' जैसे विशेषणों से सम्बोधित किया है ।^३

इसके सभी सूत्र नपे-मुले, सार-युक्त, अर्थ-गर्भ, असंदिग्ध और अल्प शब्दों को लिए हुए हैं । उदाहरणार्थ प्रथम सूत्र को ही लीजिए । इसके सभी पद सहेतुक, तथा अपनी विशेषता के द्योतक हैं । परीक्षामुख में प्रायः सर्वत्र परमत के निराकरण के साथ स्वमत-स्थापना की शैली का प्रयोग किया गया है । उदाहरण के लिए निम्न सूत्रों को देखिए:—

(क) तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ।—परीक्षामुख १-१३ ।

(ख) एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् । ३-३३ ।

(ग) न च ते तदङ्गे ।—३-३६ ।

कुछ ग्रन्थों के साथ परीक्षामुख की तुलना :

(क) परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार—प्रमाणनयतत्वालोकालङ्कार और परीक्षामुख के सूत्रों की जब हम तुलना करते हैं तो लगता है कि परीक्षामुख के सूत्र ही वादिदेव-सूरि ने कहीं कुछ शब्द-परिवर्तन करके ज्यों-के-थ्यों रख दिए हैं, कहीं शब्दाडम्बर इतना बढ़ा दिया है कि अर्थ भी क्लिष्ट हो गया है, कहीं-कहीं उदाहरणों में अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग भी किया गया है

१. विशेष जानकारी के लिए तत्तत् ग्रन्थों का तथा प्रो० दरबारीलाल जी के प्रबन्ध का (होरकजयन्ति-कानजीस्वामी-अभिनवधर्मभूषण, पृष्ठ—३००) अवलोकन करें ।

२. न्यायदीपिका (सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद—प्रो. दरबारीलाल कोठिया) पृष्ठ-२६, २७, ३३, ३४, ५२, ७३, ७४, ८० तथा ९९ आदि ।

३. 'तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारकः'—न्यायदीपिका, पृष्ठ-१२०

जिससे अर्थावबोध में कष्ट होता है, कहीं-कहीं सूत्रों का भाव ही तिरोभूत हो गया है। कहीं सूत्र इतने लम्बे दिखाई पड़ते हैं, जैसे कोई भाष्य लिखा जा रहा हो।^१ इसके विपरीत परीक्षामुख के सूत्र लघु, सरल और अर्थपरिमाण से समन्वित हैं। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के प्रथम छह परिच्छेद तो परीक्षामुख के भाषार पर बनाये गये हैं, परन्तु अन्तिम दो परिच्छेदों में नयादि का अतिरिक्त वर्णन किया गया है, जिसकी 'परीक्षामुख' में केवल सूचना दी गई है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में सूत्रात्मकता की अपेक्षा वृत्तिरूपता अधिक है। संभवतः लेखक का अभिप्राय विषय-स्पष्टीकरण एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन रहा हो।

(ख) परीक्षामुख और प्रमाणमीमांसा—इन दोनों ग्रन्थों की भी तुलना करने पर^२ ज्ञात होता है कि प्रमाणमीमांसा में भी परीक्षामुख का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। अनुकरण करने पर भी प्रमाणमीमांसा के सूत्रों में वह लघुरूपता नहीं आ पाई, जो परीक्षामुख के सूत्रों में है। इतना अवश्य है कि उसके सूत्रों में प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार के सूत्रों की तरह दीर्घरूपता नहीं है।

(ग) न्यायसूत्र, न्यायविन्दु और परीक्षामुख—यद्यपि परीक्षामुख में धर्मकांति के न्यायविन्दु, दिङ्मनाग के न्यायप्रवेश और गौतम के न्यायसूत्र का प्रभाव परिलक्षित होता है तो भी परीक्षामुख के सूत्र न्यायविन्दु आदि की अपेक्षा अल्पाक्षर और अर्थगर्भ हैं। न्यायसूत्र और न्यायविन्दु में प्रमाणसामान्य का कोई लक्षण उपलब्ध नहीं है, केवल उसके भेदों को गिना दिया गया है। पर परीक्षामुख में प्रमाणसामान्य का लक्षण तथा उसके भेद दोनों उपलब्ध हैं। इसी तरह न्यायसूत्र में सम्बन्धिवार हेत्वाभास का लक्षण करते समय उसका पर्यायवाची ही शब्द रखा गया है^३ जिससे उसका लक्षण स्पष्ट नहीं हो सका है। जब कि परीक्षामुख में उसका लक्षण स्पष्ट मिलता है^४।

इससे प्रकट है कि परीक्षामुख न केवल जैन न्याय-विद्या का एक अपूर्व ग्रन्थ है, अपितु भारतीय न्याय शास्त्र-गगन का वह एक प्रकाशमान नक्षत्र है।

ग्रन्थकार :

परीक्षामुख के कर्ता कौन है और उनका समय एवं परिचय क्या है ? आदि प्रश्नों का यहाँ उठना स्वाभाविक है। अतः उनपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इस महत्त्वपूर्ण जैन न्यायसूत्र ग्रन्थ के कर्ता आचार्य मारिण्यनन्दि हैं, जिनका उल्लेख एवं स्मरण शिला लेखों^५ और समवर्ती^६ एवं उत्तरवर्ती साहित्यिक रचनाओं में^७ किया गया है। उनके समकालीन आचार्य नयनन्दि (वि० की ११ वीं शती) ने उन्हें 'महा पण्डित' और 'तर्ककुशल'

१. क्रमशः दृष्टव्य सूत्रों की संख्या—(क) प्रमा. न. १-३ तथा २-२ परी १-२ तथा २-३।

२. विशेष के लिए देखें, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य का इस विषय का लेख, जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग २ कि. १, २। ३. 'अनैकान्तिकः सम्बन्धिवारः।'—न्यायसू० १-२ ५।

४. 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।'—परीक्षामुख ६-३०। ५. देखें, शिलालेख नं० १०५ (२२४) शिलालेख संग्रह पृ० २००। ६. देखें, नयनन्दिका मुद्रसंग्रहचरित। ७. देखें, प्रमेयकमल-मार्तण्ड तथा प्रमेयरत्नमाला।

लिखा है।^१ प्रभावन्द और अनन्तवीर्य जैसे उनके समर्थ टीकाकार तो उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं भ्रषाते हैं। प्रभावन्द कहते हैं^२ कि उनके चरणप्रसाद से ही उन्हें जैन न्यायशास्त्र तथा धर्मेनन्याय-शास्त्रका ज्ञान हुआ है, जिसके वे समुद्र हैं। अनन्तवीर्य 'नमो माणिक्यनन्दिने' जैसे सम्मान-सूचक शब्दों द्वारा उनके प्रति अत्यधिक आदर एवं श्रद्धा व्यक्त करते हैं।^३ इससे मालूम पड़ता है कि माणिक्यनन्दि तर्कशास्त्र के पण्डित तो थे ही, अन्य शास्त्रों के भी वे मर्मज्ञ थे।

इनका समय प्रो० दरबारीलाल जी कोठियाने ऊहापोह के साथ विक्रम की ११ वीं शताब्दी (ई० सन् १०२८) निर्णीत किया है और अनेक आधारों से माणिक्यनन्दि और उनके आद्य टीकाकार प्रभावन्द में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सिद्ध किया है।^४



भगवान् महावीर का दिव्य दर्शन

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

साहित्य-दर्शनाचार्य, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

[...इस संसार का कर्त्ता कोई नहीं है और न किसी के द्वारा इसका मूलतः उच्छेद ही हो सकता है। परिवर्त्तनशीलता के कारण ही इसका 'संसार' यह नाम पड़ा है.....]

मिट्टी से घड़ा बनता है और फिर वही घड़ा कालान्तर में मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार, यह संसार परिणमन या परिवर्त्तनशील है। किन्तु, साथ ही वह भी ज्ञातव्य है कि संसार में परिवर्त्तनशीलताका गुण के बावजूद अनादित्व और अनन्तत्व भी है। इस संसार का कर्त्ता कोई नहीं है और न किसी के द्वारा इसका मूलतः उच्छेद हो सकता है। परिवर्त्तनशीलता के कारण ही इसका 'संसार' (संसरतीति) नाम पड़ा है।

उपरिविध संसार की रचना जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के समिश्रण से हुई है। चेतन्य जीवात्मक होता है। इसका अणुद्व और शुद्ध रूप से दो प्रकार का परिणमन होता है। जीव का अजीव के साथ संबंध अनादिकालीन है, अतएव वह विकारी होता है। यों तो, सोना शुद्ध और दीप्तिमान् है, किन्तु खान से निकलते समय लज्जित मल (किट्ट, कालिमा आदि) से युक्त

१. देखो, नयनन्दिका मुदं सणुवरिउ। २. देखो, प्रमेयकमलमार्तण्डके आदि व अन्तिम प्रशस्ति-पद्य। ३. देखो, प्रमेयरत्नमाला कारिका २। ४. देखो, प्रो० दरबारीलाल कोठिया, भातपरीक्षा की प्रस्तावना पृष्ठ २६।

रहता है। उसमें शुद्धता और दीप्तिमानता बाद में आती है। तदवत् प्रारंभ में अजीवाबद्ध जीव प्राप्ति जाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य द्वारा शुद्ध बनता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि परिणति के बावजूद जीव और अजीव का पृथक् अस्तित्व सदा एक समान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं हो सकता और न अजीव जीव ही। फिर भी, जल में कमल के समान दोनों एक-दूसरे से लिपटे रहते हैं, निरन्तर। अजीव से जीव को मुक्त कराने में ज्ञान ही एकमात्र समर्थ होता है। जब तक ज्ञान जीव को अजीव की प्रत्येककारिता को और से सावधान नहीं करता, तब तक वह अजीव से लिपटा रहता है और लिपटता ही चला जाता है। इस विषय को सोदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे मनुष्य मदिराजन्य आवेश में इतना विकृतज्ञान हो जाता है कि वह अपने आत्मीयों को अच्छी तरह पहचान नहीं पाता, वैसे ही अनादिकाल से अजीव के सम्पर्क ने जीव पर ऐसा गहरा रंग जमा रखा है कि उसके द्वारा अपना असली चैतन्य रूप समझ पाना मुश्किल है और न यही अनुभव कर पाना सम्भव है कि अजीव से मेरा अस्तित्व सर्वथा पार्यव्ययुक्त है।

अजीव पाँच प्रकार का होता है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँचों में पुद्गल के अतिरिक्त शेष चार अमूर्त, अतएव अनुभवगम्य है। पुद्गल, मूर्त अतएव रूपरसगन्ध-स्पर्शात्मक होता है। जीव और पाँच प्रकार के अजीव ये छह द्रव्य अनादिनः परिणाममणाल है। थोड़ा फर्क यह है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणामन अपने स्वभाव के अनुकूल ही होता है, इनका वैकारिक परिणामन नहीं होता है।

कहा जा चुका है कि जीव और अजीव का वैकारिक परिणामन ही संसार शब्द से संज्ञित है। इसे यो समझिए कि चूने का रंग उजला है और हल्दी का रंग पीला। किन्तु, दोनों पदार्थों को मिला देने पर उनका रंग लाल हो जाता है। अल्पज्ञान व्यक्ति यह नहीं समझता कि यह लाल रंग दो पदार्थों के सम्मिश्रण से बना है। किन्तु दोनों तत्त्वों का ज्ञान रखनेवाला रामायनिक व्यक्ति उक्त लाल रंग को देखते ही भटिति कह देगा कि यह लाल रंग हल्दी और चूने का सम्मिश्रित परिणामन है, किसी एक पदार्थ का यह रंग नहीं है। ठीक इसी प्रकार, संसार को केवल जीवात्मक नहीं कहा जा सकता और न केवल अजीवात्मक ही। जीव और अजीव का सम्मिश्रित परिणामन ही 'संसार' कहा जा सकता है। पुद्गल के परिणामन का ही यह फल है कि जीव केवल ज्ञाता और द्रष्टा ही नहीं होता, वरन् वह अनुभूतिमाल भी होता है। पुद्गल के संयोग से ही जीव में राग, द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते हैं और वह अजीव को भी अपना मानकर उसके वियोग में सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है।

अजीव की तुलना मधु से लिपटी तलवार से की जाती है। जीव जब तक अज्ञानावस्था में रहता है, तब तक उसे अजीव मधुमय मासूम होता है, उसकी अन्तःस्थिति भयंकर घातकता को और उस जीव की दृष्टि जाती ही नहीं। किन्तु, जब जीव को साधना द्वारा क्रमशः रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति हो जाती है, अतः अपने 'स्व' रूप से 'पर' में भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है, अतः अपने 'स्व' रूप के ज्ञान को ही स्वसंवेदन ज्ञान या सम्यग्दर्शन कहते हैं। बिना सम्यग्दर्शन के सत्य का आलोक मिलना सम्भव नहीं।

जीव को जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तब अजीव के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मिथ्या आलोक में पड़ा हुआ जीव जिन वैयक्तिक सुखों को सही मानता रहता है, सत्य

के धासोक से उन्निद्र होने पर उसी जीव की वैयक्तिक सुखों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती एवं न उन्हें वह अपना ही मानता है। इसी विवेक का नाम सम्यग्ज्ञान है।

उक्त सम्यग्ज्ञान के प्राप्त कर लेने के बाद क्रमशः जीव के मन में सांसारिक पदार्थों के प्रति लालसा तक भी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जीव यथासम्भव सांसारिक विषय का सेवन कतई नहीं करता, यदि सेवन करता भी है, तो उसका यह विवेक सदा जागरूक रहता है कि ये भोग मेरे कर्म-रोग की प्रतिक्रियामात्र है। और, वह इनसे सर्वदा मुक्त होने को उन्मन बना रहता है। इस विषय की स्पष्टता के लिए यह उदाहरण अनुकूल होगा कि जैसे जेलखाने में बन्द कैदी अनेक प्रकार के कपड़े तैयार करता है, परन्तु वह समझता है कि ये कपड़े मेरे उपयोग में आने को नहीं, ये तो किसी दूसरे के लिए हैं। मुझे तो इन कपड़ों को जेलर की आज्ञा से बनाना पड़ रहा है। यदि मैं इस कैदखाने से मुक्ति पाऊँ, तभी अपने लिए वस्त्रोद्योग में लग सकता हूँ। अभी तो मैं केवल जेल के नियमों का पालन-मात्र कर रहा हूँ। ठीक इसी प्रकार, विवेकी जीव सांसारिक कार्यों का सम्पादन करता हुआ सदा यही समझता है कि यह सब उपाधि-मात्र है, इससे छुटकारा मिलने पर ही अपने 'स्व' रूप को प्राप्त किया जा सकता है। फलतः जीव से जहाँ तक हो सकता है, भरसक वह अपने इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण रखता है। सच्चे अर्थ में इन्द्रिय और मन के रोकने की ही सम्यक् चारित्र्य कहा जाता है।

उक्त रत्नत्रय का आशिक प्रकाश जबतक जीव को मिलता रहता है, तबतक वह स्वरूपज्ञान-में तत्पर रहता है, और जब रत्नत्रय का पूर्ण विकास हो जाता है, तब वह जीव अजीव से अपने को बिलकुल भ्रम कर शुद्ध परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ एक बात भविस्मरणीय है कि प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। आत्मा (जीव) ही अपनी साधनाओं द्वारा परमात्मा बनती है। यदि किसी का नाम 'ईश्वर' है, तो वह शुद्धात्मा ही है। अशुद्धात्मा का नाम 'संसारो' या 'जीव' है। यही कारण है कि अनन्त तपस्साधनों द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर लेने के कारण ही भूतपूर्व सांसारिक जीव भविष्य में, एक ही जीवन में, तीर्थंकर या ईश्वर बन गये। इसीलिए तीर्थंकरों को नमस्कार करने वाले उनसे किसी कृपा की प्राप्ति नहीं चाहते, वरन् उन्होंने जो गुण प्राप्त किये हो, उन्हीं की उपलब्धि उनका अभीष्ट है। शुद्धप्रविच्छा-चार्य विरचित तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति में मंगलाचरण करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने इसी पर कहा है :-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभूताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तदगुणलब्धये ॥

अथवा श्रीमदकलकूदेवाचार्य-विरचित लघुवृत्तयः का यह मंगलश्लोक द्रष्टव्य है :-

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

अब फिर, संसार-सर्जना का जहाँ तक प्रश्न है, पुद्गल (जड़द्रव्य) के अनेक रूपों में परिणामन ही इसका मूल कारण है। स्पष्ट यह कि पुद्गल ही, अनेक आकृतियों में परिवर्तित होकर संसार की रचना करते हैं। वस्तुतः, प्रत्येक द्रव्य बहिरंग और अन्तरंग दोनों रूपों से पर्याप्तमक होता है। गेहूँ यदि द्रव्य है, तो रोटी उसका पर्याय माना गया है। अर्थात् गेहूँ में रोटी बनने की शक्ति निहित

है। अनेकान्त (स्याद्वाद) की दृष्टि से गेहूँ न केवल गेहूँ है, बरम् रोटो भी है। इसलिए रोटो न केवल रोटो, बरम् गेहूँ भी है। अतएव, गेहूँ गेहूँ भी है, रोटो भी है। रोटो रोटो भी है, गेहूँ भी है। यही कारण है कि शक्ति की दृष्टि से गेहूँ में रोटोपन अनादि है। गेहूँ में रोटो बनाने की शक्ति किसी के द्वारा पैदा नहीं की गई और न किसी से गेहूँ की रोटो बनने की शक्ति छीनी जा सकती है। हाँ, कोई इतना अवश्य कर सकता है कि गेहूँ में शक्ति-रूप से रहनेवाले रोटोपन को विकसित कर पूछा बना ले या और कोई पक्वान्न तैयार कर ले। अतः निस्संदेह पुद्गल का यह परिवर्तनवाद ही सांसारिक सृष्टि का रहस्य है। संसारी जीव पुद्गल के उक्तविध परिणामन-कार्य के निमित्तमात्र है, नैमित्तिक या कर्त्ता नहीं। जीव का यह अज्ञान ही है कि वह अपने को पुद्गल-परिणामन का विधाता मान बैठता है।

दही और गुड़ को मिला देने पर केवल दही या केवल गुड़ का ही अलग स्वाद लेना कठिन है। स्वाद लेनेवाला इस उलम्भन में पड़ जाता है कि यह दही है या गुड़ है। जीवाजीवारमक द्रव्य भी इसी प्रकार असत्यन्त ही उलम्भनदार है। इसी से संसारो जीव अपने 'स्व' रूप को मूलकर 'पर' द्रव्यों से उलम्भा रहता है। और यह उसी उलम्भन या अज्ञता का फल है कि जीव संसार के सभी पदार्थों में दृष्ट और अनिष्ट की कल्पना करते हैं एवं इस कल्पना के जाल में मकड़ी की तरह उलम्भ जाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक उदाहरण है कि मकड़ी जाल को तो स्वयं बनाती है, परन्तु जब वह स्वयं निमित्त जाल में फँस जाती है, तब वह उससे निकलने में सर्वथा असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्था से वह यह असलियत एकदम भूल जाती है कि इन जाल को जब मैंने स्वयं बनाया है, तब इसे तोड़कर भी निकल भाग सकती हूँ। ठीक इसी प्रकार, जीव अपनी कल्पनाओं से जिन संसार को सिरजता, उससे स्वयं निकल भी सकता है, फिर भी, अपनी अनन्त शक्ति को भूलकर अपने कल्पना-लोक में लिपटा हुआ लटका रहता है। दिनानुदिन वृद्धिज्ञत स्व-निमित्त संसारासक्ति जीव को इस प्रकार विवेकभ्रष्ट कर देती है कि वह अपने ऐन्द्रिय विषयों का सर्वाधिक महत्व देने लगता है। यहाँ तक कि महल, मकान, हाथी, घोड़े, स्त्री, पुत्र, धन-दौलत इत्यादि अप्रत्याशित विपत्तियाँ अनजाने मोल ले लेता है और तब फिर इनके व्यामोह में उसको उन्मुक्त अवस्थान्वन्ती हो जाती है।

जीव को उक्त कल्पना-लोक की असारता तब मालूम होती है, जब वह एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में जाने लगता है। महायात्रा के समय उसे इस असलियत का पता चलता है कि जिन्हें मैंने अपना और प्रिय समझा और जिनके प्रति, तत्त्व-चिन्तन की उपेक्षाकर, धामत्त रहा, वे मुझे अब अपने से अलग कर रहे हैं। कितने अशुद्ध जीव तो महायात्रा के समय भी मोहाविष्ट रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि मेरे बाद मेरे बन्धुजन मेरी सम्पत्ति का उपयोग करेंगे। अस्तु,

रत्नत्रय-सम्पन्न तीर्थंकरों की दृष्टि में वही जीव शुद्ध है, जो अपने-आपको स्वतंत्र मानता है और प्रत्येक जीव को भी स्वतन्त्र समझता है। तत्त्वतः कोई जीव किसी का नहीं होता, और न कोई दूसरा ही जीव अपना बन सकता है। 'स्व' और 'पर' की भावना तो पुद्गल के पर्यायक्रम से उत्पन्न होनेवाली मिथ्या-भ्रान्ति है। जीव अपने उक्त पर्याय (स्त्री, पुत्र आदि) से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह अपने विवेक से सुशुद्धि पाकर मुक्ति के हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। जीव का विवेक जबतक उद्बुद्ध नहीं होता, तबतक उसे सत्य का आलोक नहीं मिल सकता। जीव की आत्मो-भ्रति आत्मचिन्तन और स्वरूपान्वेषण से ही सम्भव है। सही मानी में जीवत्व-प्राप्ति ही जीव का

साध्य है। दूसरे साधन तो केवल उपचार-मार्ग हैं। जीव को उपासना और कर्मकांड की उतनी ही खुराक चाहिए, जितनी से अपने 'स्व' रूप को समझने का अवकाश मिल सके।

जब तक 'स्व' रूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। जैन दार्शनिकों ने 'मोक्ष' की बड़ी विषद व्याख्या प्रस्तुत की है। संक्षेप में, आत्मा का हित ही 'मोक्ष' कहा गया है। आत्मा जब कर्म-मल, कलंक और जरीर को अपने से बिल्कुल अलग कर देती है, तब उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुरु-रूप एवं अव्याबाध सुख-रूप जो सर्वथा विलक्षण आत्यन्तिक अवस्था उत्पन्न होती है, उसे ही मोक्ष कहते हैं :—

‘निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्ययाबाधसुख-
मात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति ।’

—आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १

प्रसंगतः ज्ञातव्य है कि सांख्याचार्यों के मत से आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों में सदा के लिए मुक्त हो जाना ही मोक्ष है, तथापि वे आत्मा के स्वरूप को चैतन्ययुक्त मानते हुए भी उसे ज्ञान रहित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञान-धर्म प्रकृति का है। उसीके संसर्ग से पुरुष (आत्मा) अपने को ज्ञानवान् अनुभव करता है एवं पुरुष के संसर्ग से प्रकृति अपने को चेतन अनुभव करती है। मोक्ष के संबंध में बौद्धों का विचार है कि दीपक के बुझा देने पर जिम प्रकार वह बही शान्त हो जाता है, कहीं आगे नहीं जाता तद्वत् आत्मा की सन्तति का अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। आत्मा की सन्तति पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चलती, यानी आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता।

फिर भी, क्या सांख्य और क्या बौद्ध सब दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान को ही मूलतः मोक्ष का साधन माना है। एक ऐसा भी प्रबल दल है, जो केवल नाम-स्मरण को ही भवसागर पार उतरने का प्रधान साधन मानता है। नाम स्मरण का प्रकारान्तर हरिकीर्तन या रामधुन भी है। किन्तु जिस प्रकार रोग का निवारण दवा के स्मरण, दर्शन आदि एक-एक कारण से नहीं हो सकता, उसी प्रकार मोक्ष को प्राप्ति भी किसी एक के द्वारा कभी सम्भव नहीं, वरन् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य इन तीनों की प्राप्ति से ही मोक्ष सम्भव है। इसीलिए आचार्य शुद्धपृच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र-ग्रन्थ में कहा है :—

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।’—१-१ ।

भगवान् महावीर ने अपने दिव्यदर्शन में इसी मोक्ष को प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का महाम् मंदेश दिया है।



The conception of self in Jaina metaphysics.

Rampravesh Pandey

H. D. Jain College, Arrah. (Magadh University)

[.....The Conception of the self in the whole of the Indian Philosophy in general and Jainism in particular may be regarded as the alpha and Omega of our spiritual enquiry.]

The conception of self is one of the most crucial problems of philosophy which has been a matter of perennial importance. This is not only Indian philosopher's investigation rather it has been a problem for science, psychology and philosophy as a whole. Just as the letter "A" and "Z" stand for the beginning and end of our linguistic expression, similarly the notion of self is the beginning and end of Indian philosophy. Due to this paramount importance of the subject I was inclined to write an article which may be fragmentary approach in understanding the subject.

The conception of the self in the whole of the Indian philosophy in general and Jainism in particular may be regarded as the alpha and omega of our spiritual enquiry But in Jainism although the general conception of self remains the same with a little modification yet the name 'Jiva' has been given for a special interest which will be made clear later on.

If we survey the whole history of Indian philosophy we can find that it plays a vital role in every school of thought i.e. why it has been said that self is a pivot round which the whole of the structure of Indian philosophy moves and has its existence. If we abolish the concept of self from the realm of Indian Philosophy the huge ornamental and organised building will shatter into pieces and perish away. That's why Dr S. Radhakrishnan giving a genuine remark to the self writes that "what is our true self? while all our body organization undergo changes, while all our thoughts gather like clouds in the sky and disperse again, the self is never lost. It is present in all, yet distinct from all Its nature is not affected by ordinary happenings. It is the source of the sense of identity through numerous transformation. It is one thing that remains constant and unchanged, in the incessant and multiform activity of the universe, in the slow changes of organism, in the flux of sensations, in the dissipation of deeds, the fading of memories." ¶

¶ See Eastern religion and western Thoughts.

Although the self has been used in various senses and has varied connotations, yet according to Shri Manmathnath Ghosh the word "self" has been used in only three different senses in the whole of the Philosophical literature in the western as well as in the eastern. Firstly, self occurs in the philosophical systems in the sense of permanent spiritual principle of unity, underlying, feeling and willing. Secondly, the word 'self' comes in the sense of an aggregate of mental states without any underlying principle of unity among them. Thirdly, the word 'self' appears to denote a concrete spiritual unity which is not above and beyond the mental phenomenon viz thinking, feeling and willing, but realises itself in them without losing its unity and identity in them.

Thus according to the first view the self is an abstract unity, according to second the self is an abstract plurality and according to the third self is a concrete unity in plurality or identity in difference. In other words self can be viewed from three perspectives viz (a) noumenal view of the self (b) impenetrable view of the self (c) idealistic view of the self.

In order to determine the precise meaning in which of the three above senses, the self has been used in Jaina philosophy, we can say that the self has been used in Jainism in the first of the above three senses. That is to say according to Jainism self is a spiritual principle having four fold perfection which is knower and enjoyer as well as the changing entity. Distinguishing more accurately the characteristics of 'Jiva' Acharya Nemichandra Sidhanta Chakravarti observes in the following verse —

“जीवो उवमोगमश्चो अमुत्तिका सदेहपरिमाणो ।
भोक्ता संसारस्थो सिद्धो सो विमस्सोद्भङ्गः ॥” †

means Jiva is characterise by Upayoga, is formless and an agent, has the same extent of as its own body, is the enjoyer (of the fruit of Karma) exists in Samsar, is Siddha and has a characteristic upward motion. Acharya Gridhapiksha also defines self in Tattvarthasutra, as utility is the mark of self, ‡ or according to Pujiyapad's consciousness is the essence of soul (चेतना लक्षणो-जीवः). Jiva occupies in all, the seven catagories of the Jain's metaphysics. If we deny this spiritual principle the whole Jaina metaphysics falls down like the house of cards. That is why the self is the beginning round which all others catagories are encircled.

Jiva is not only the essence of the whole physical world, rather it is the essence of whole Jaina philosophy. In order to characterise the true nature of the self we can divide the whole of the Jain's opinion in two broad classifications.

† Dravya Samgrah, gatha no. 2.

‡ उपयोगो लक्षणम् ।

Although the Jaina writings are confused on this topic, yet we can comprise the whole of the various views under the title of transcendental and empirical self.

Regarding the eternal purity of soul or 'Jiva' the achievements of Jaina philosophy is very peculiar in relation to other systems. According to Jainism soul or Jiva is inherently perfect. It is possessed of fourfold perfection and infinite potentialities with it, which has been peculiarly called in Jaina literature by the name of अनन्त चतुष्टय that is to say infinite knowledge, infinite faith, infinite power and infinite bliss is the primary nature of every soul. But due to empirical super imposition upon it the soul loses its infinite potentialities and behaves like an ordinary worldly Jiva and in this connection this concept of Jainism is very near to 'Advaitic' concept of ignorance. Both Advaitic and Jaina adopt identically the same attitude as to the nature of the individual self. Both the views maintain that the individual self in concrete world is ultimately identical with this absolute reality. The doctrine of identifying Jivatma and Paramatma is common to both Advaitic and Jaina philosophy.

In the whole of the Indian philosophical systems Jainas alone regard consciousness as the essential characteristic and genuine feature of every "Jiva" or every soul which has been fully illustrated in the very definition of the soul, that is to say consciousness is the essence of soul. This concept of Jainism regarding consciousness as the mark of soul seems to be complete antithesis of the materialistic concept of self, where it is said that consciousness is not the essential nature of the soul rather it is the by-product of material atoms. Refuting this materialistic's theory Prabha Chandracharya declares in his श्रीप्रमेयकमलमार्तण्ड as :—"पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्"चैतन्याभि व्यक्तित्वादस्य विरोधाच्च । किं च, सतोऽभिब्यवहितः चैतन्यस्यासतो वा स्यात्सदसद्रूपस्य वा ? प्रथमकल्पनायां तस्यानाद्यनन्तरत्वसिद्धिः, सर्वदा सतोऽभिब्यवहतेस्तामन्तरेणानुपपत्तेः । पृथिव्यादिसामान्यवत् । तथा च "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव" इत्यपरोक्षिताभिधानम्चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्यान्तःसंवेदनेनानुभवात् ।"

But not only this Jainas go step forward by declaring that consciousness is not the limiting property which remains in the particular place of the body rather it is extended in the whole of the body. That is why Jainas believe in a concept of extended consciousness and this extension varies with the development of the organs. The consciousness is extended in as much as in the body of elephant. But extension differs with the proportion of the body. Although there is difference in the extension of the consciousness but potentiality all the soul have equally fourfold perfections. As Uma Swami says in Tattvarthasutra.....प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् ।

In order to study the true nature of the self as conceived by the Jaina thinkers. It is better to present a comparative concept of self as prevalent in other systems of thought. And in this connection we can divide the whole conception broadly under four headings.

- (a) Materialistic concept of self.
- (b) Other Indian systems than Jainism.
- (c) Connection of self as found in western philosophers.
- (d) Psychological concept of self.

(a) Generally all the materialists are agreed on this point that there is no separate eternal conception of self other than this physical body. Soul is just the by product of different materialistic atoms. The well known ancient greek philosopher Democritus considered the soul to be composed of fine smoother, under atoms. Huxley considers soul as an epiphenomenon of the brain and for him all the mental states or processes are merely occasioned by products of the physical process of the brain. Even Hobbs in the west and Carvakas in the east are the supporters of the above views. The "Carvakas" even go to the extent in the saying that soul is nothing but the living body qualified by consciousness. (चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा) Just as fermented rice molasses are originally nonintoxicated becomes intoxicant when allowed to ferment. As we find in the following verse of the Carvakasasthi.

"चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते ।
किण्वदिभ्यो हि सर्वेभ्यः द्रव्येभ्यः मदशक्तिवत् ॥"

(b) The conception of self as found in Indian philosophies other than Jainism seems to be of diverse nature. But for convenience we can divide the whole opinion under three broad headings.

(1) Nihilistic or empirical conception of self. and in this heading we may refer to Buddhistic concept of self. He has referred to such questions as indeterminate or अव्यवतानि ।

But later on the followers of Buddha in order to establish the doctrine of momentariness or क्षणिकवाद, identified the self with the changing reality. And what was denied by Buddha was restored again by his disciples like Shantarakshit and Dharmakirti. As Shantarakshit calls self even विशुद्धात्मा and Dharmakirti also says that true knowledge consists in the realisation of pure self (विशुद्धात्मा-दर्शनम्) ।

(2) We also find the realistic concept of self in Indian philosophical systems by the supporters of Nyaya-Vaisesika and Mimamsas. Nyaya and Vaisesika school present a peculiar thought regarding the nature of self. Even they say that soul is a unique substance to which all cognitions, feelings

conations belong as its attributes. Self is not concious rather conciousness is its accidental quality. Self was niether concious in the beginning nor will be in future. It appears as concious in the present only due to the contract of sense organs. Generally Mimarsa also agrees with this realstic and pluralistic conception of self. Both Prabhkar and Kumaril follow the general realistic pattern. Prabhakar agreeing with the Nyayvaisesikas says that the self is essentially unconciousness where as Kumarila differing from Prabhakar regards conciousness as a model change in the self.

(3) Apart from these two sects of opinions we also find an idealistic trend regarding the conception of self which was started by the Vedantic or Upanisadic thinkers and still continuing inours contemperory age. Although idealistic trend of thinking has a large history behind it. But whatever the school may be our thinkers have been the most general feature of this idealistic trend regarding the nature of self is this, that the self is concious external and abiding principle behind the diverse nature of think. And there is no controversy about this general opinion. Even the Upanisadic thinkers, Gita, Sankhya, Yoga, and whole of Vedantics agree in saying that self is an eternal imperishable something inside our this materialistic body. Although it experiences all the worldly things by the medium of the sense organs and the mind still is an experienced something away from our sense organs. Although it is the controller of the every human activity, still it is uncontrolled by all the activities of the human beings And one who understands and realises the mysterious nature of this eternal principles This very self becomes the object of eternal joys or Anand, as is advocated by Sri Aurbindo and other contemperory Indian thinkers

(c) Although it is hold that apart from a few ancient Western thinkers excluding Plato and Plotinus the whole western thinkers don't think it proper to deal the conception of self. Even it has been said this much that they are not interested in unveiling the mysterious nature of the self. But this is not the fact. Although it is undeniable fact that the views of the western thinkers are not similar in the conception of the self but the difference of the views is not the genuine mark for the rejection of the self. All the Indian thinkers excluding a few have a paramount belief. There is an eternal, all the pervading reality which is by its very nature concious. This typical view is not acceptable to the western thinkers but we do find a belief in the concept of self or soul substance which has been a matter of perenial interest right from Plato and Aristotle. For Plato soul is a mental or immaterial substance which expresses itself in three fundamental types of expression viz thinking, feeling and willing.

(d) Psychology also seems to be interested in discovering the mysterious nature of the self. In psychology self has been replaced by the brain action or

mind. All the prominent schools of psychology like Behaviourism "Gestaltists and Animistic theory of Mc. Dugall and in the Freudian theory we do not find any separate conception of the self apart from the brain activity. But in the higher psychology popularly known as parapsychology or psychical research we find modern psychologist like Stern Dilthey, Allport, Spranger etc, are attempting to build up a science of personality. Alexis Carrel the novel prizewinner scientist demands that "attention should be focussed on the soul of man."

Thus according to Jainism soul is a conscious substance. It is the soul that knows things, performs activities, enjoys pleasure, suffers pain and illumines itself and other objects. The soul is eternal but it also undergoes change of states.

Owing to the inclination generated by its past actions a soul comes to inhabit in different bodies successively. The soul is present throughout the entire body and makes it conscious.

The soul is inherently perfect. It has infinite potentialities within. In its original state the soul possesses fourfold perfections called **अनन्त चतुष्टय** material particles when penetrate in the soul over power, these fourfold perfections in other words the individual soul is limited because it is associated with the material body. The body is made of material particles called **पदमल**. Soul's association with material particles is called bondage. Soul's own passion attract material particles towards it. These passions **क्रोध, मान, माया** and **लोभ** are generated in the soul because of the 'karma'. The power of soul when fully developed is infinitely strong. In the beginning it has very limited power and that's why power is gradually developed to unlimited degree in strength under these circumstances karmic powers of the soul. In this way the soul finds itself in bondage.

According to Jaina's bondage means association of the soul with matter and therefore the liberation will mean the complete dissociation of the soul from matter. That can be attained in two ways by stopping the influx of main matters into the soul and secondly, by complete illumination of the matter with which the soul has become already mingled. This is possible by attaining right convictions i. e. right faith, right knowledge and right conduct. (**सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।**)



CAN JAINISM STOP WAR ?

Prof. Diwarkar Pathak

[Prof. Pathak's article on "Can Jainism stop war ?" was too large. Due to some difficulties we have given a net summary of his article.—Editors]

We are passing through an age of crisis and the atmosphere is as hostile to peace today as it becomes when war actually comes.

It is true that war is not an evil in itself. Its aim is not bad. It is necessary to root out the prevailing disorder, chaos and anarchism. The scriptures are the best testimony of the fact that war is good in itself, when its aim is human welfare, when it respects human personality, then the war is permissible.

But today the whole aim and situation has changed. The aim of present war is to acquire more land, more wealth. This is because with the scientific development one's own mind has changed. Even the technique of war has taken a drastic change with the manufacturing of Atom bomb and hydrogen bomb. Today the war is not limited to soldiers. It is not localised another. Whole world is involved in it. Hence the whole humanity is on the verge of total annihilation.

In this state of potential mass destruction is there any way out to check this ruin ? Jainism is still alive and breathing its sublime messages of non-violence (Ahimsa), love, and non-collecting attitude. The adoption of these messages can certainly stop the war.

We are all human and so we must love each and all. Jainism has always been broadcasting this message of love. When we love each and all, there is no question of conflict and hatred. Hence no war by loving all. We can live in peace.

There is also a negative approach of Jainism that is non violence or Ahimsa which are as much capable of stopping war as anything else. This is the central theme of Jainism, which it has been preaching from time immemorial.

Jainism can stop war if we follow its message of non-collecting things. A man should have things in such a quantity which is required for him and no more. None is able to take away one's property with him when he dies. He must go empty hand. Hence, he must be satisfied with what he has and only then can he attain happiness and a war can be stopped.

In short, we must change our heart according to Jainism. We must adopt the principle. Live and let live' and this can be we follow. The message of Jainism which will ultimately lead us to a state of peace and can save the suffering humanity from the coming war like situation."



The Conception Of Godhead in Jainism

Prof. Rai Ashwini Kumar,

Magadh University

Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul. Each soul is a potential God. But God in Jainism is not a Creative agency. Nor is He Capable to grant rewards and punishments to the individual beings.....

Of all the subjects of philosophical discourse that have coloured the cultural life of India from the earliest stages of her history, that of God occupies a prominent place. People professing allegiance to different faiths agree in regarding God in some form or other as the source of their inspiration and guiding principle of their life. They hold that in the experience of or contact with God lies the only assuagement of human unrest. But the different systems of Indian thought are not unanimous as regards the conception of Godhead. Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul. Each soul is a potential God. But God in Jainism is not a creative agency. Nor is He capable to grant rewards and punishments to the individual beings. Nor is every God¹ capable to reveal and effectively preach the Truth. Only a select few can do this. Let us now see how Jainism works out the details.

Jainism pre eminently stands for Atman-theory and like the other systems of Indian thought puts stress on self-realization. According to the Jainas, the soul is pure and perfect in its intrinsic nature...It possesses a number of characteristic attributes while it is in all perfection. Mundane souls are not perfect because their innate qualities are found to be obscured and distorted. This obscuration and distortion find expression in the imperfect existence of the soul. These souls are not free to enjoy perfect knowledge and unrestricted bliss and unlimited power. Why is it so? What cripples and distorts their innate faculty of knowledge, etc.? the Jaina philosopher answers that the various characteristic attributes of the soul are infected by something foreign which covers their innate natural faculties, their perfection and purity. This foreign element is nothing but karman. According to the Jaina conception, karman is an aggregate of material particles which are very fine and are imperceptible to the senses. It enters into the soul and produces changes in

1. Jainism is polytheistic.

it. The karmic matter obscures as well as distorts the natural characteristics of the soul and keeps it away from its Supreme state of existence. In the state of bondage the soul is inseparably mixed up with the matter. They are more intimate than milk and water. Our worldly status is wholly dependent upon the karman. The world contains an infinite number of souls. *

Atman, according to the Jainas, is a migrating entity of sentient stuff associated with Karmic energy since eternity and the transmigratory destiny of each being determined by its karmans. Karman makes the soul wander in different grades of existence. The Jainas distinguish three states of the self, the principle of life—the exterior self, the interior self and the Supreme self. The self with the deluded belief that it is none other than the body is the exterior self. The self that clearly discriminates itself from the body and the sense-organs is the interior self, the pure and perfect self free from all limitations is the Supreme self. The exterior self becomes the Supreme self by means of the interior self. Or, in other words, it is the internal by leaving everything external that becomes the Supreme-One gets rid of the interior as much as the exterior self in order to realize the Supreme self. He is an ignoramus who takes the body for the soul. The materialist view of the self as identical with the body is the first thing that one is to eradicate in order to tread the path of spiritual realization. To achieve this purpose one is required to turn inward and concentrate upon the self as distinct and separate from the body. When one is fully convinced of the distinction between the self and not-self, one is required to rise still higher and concentrate upon and realize the Super-Atman which is free from all limitations of the empirical self. When karmic matter is severed from the soul through penances, meditation, etc., its transmigratory journey comes to a stop. When the various limitations created by the karmans are removed and the real nature of the soul realized, there is rescue, there is liberation. All the innate powers of the soul are manifested in liberation. Now the soul becomes a Super-Atman (Paramatman). The soul himself is Paramatman; divinity is already there in oneself; but he remains as Atman only because of karmic limitations; as soon as Atman is realized by himself, he is Paramatman. In view of their essential nature the soul and the Paramatman are one and the same. Really speaking, there is no difference between the two. According to Jainism, Paramatman is a Super-spirit representing the ultimate point of spiritual evolution of Atman by gradual destruction of karman. Paramatman enjoys ideal isolation and he has nothing to do with the world beyond that he knows and sees it, because it is his nature to see and to know. Thus Paramatman stands for God, though never a creator, etc. Jainism denies the creative function of God.

Jainism is polytheistic. Each soul is a potential God. God is latent in every soul. It is his ultimate essence and reality. Other things, such as his

emotional and volitional complexes, intellectual and moral equipments, are only the excrescences generated by the impact of external forces. Atman to Paramatman is a course of spiritual evolution, and it is the duty of every aspiring soul to see that it reaches the stage of Paramatman. The individual soul can transcend his limitations and become Paramatman. Jainism believes in the soul's Capacity to recover its essential nature after a course of moral discipline and philosophical enlightenment. The soul passes through a number of stages while reaching from the lowest to the highest stage of spiritual development. The man only on complete purification from matter attains Siddhi. Siddhi is open to all. The soul has inherent capacity for emancipation. But this capacity remains only a dormant virtue and inactive force unless and until it gets an opportunity for expression. There are certain spiritual impulses that good the soul to fulfil its mission and realize the soul. The soul which lies in spiritual slumber is roused to active spiritual exertion when it is reminded of the great mission that it has to fulfil and realize. According to the Jainas, the reminder sometimes comes from the exhortations of those who have realized the truth and revealed it to the common masses. Or, sometimes the soul gets hold of the truth automatically without any extraneous help. The inspiration should come from within. The Jainas do not believe in any eternal revelation of truth, nor in the revelation of truth by God. The Jainas believe only in the inherent capacity of the soul to realize the truth even in the absence of any foreign interference or instruction. But the Capacity to reveal and effectively preach the truth, however, does not belong to all the enlightened and omniscient souls. In this connection there occurs a pertinent question. 'Why of all the souls which are gifted alike, a particular soul, and not every one, attains to this phase of perfection-Siddhi is open to all the awakened souls but the capacity to reveal and effectively preach the truth is reserved for a select few only. What the special qualifications of these few are and how they were originally acquired.' Here the Jaina philosopher comes to offer a solution. 'There are some awakened souls who are naturally inclined towards universal well-being. As soon as they experience the first dawn of enlightenment on the annihilation of the Gordian Knot (*granthi*), they make determination to redeem the world from its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with the determination.† Those rare souls by their moral and virtuous activities‡ of the past life acquire the potency of revealing the truth and establishing a religious Community (*Tirthakrtva*). Such souls, on the attainment of omniscience, become capable of revealing the truth and preaching it to the world at large.' These souls become Tirthankaras, founders of religious community. They are the embodiment of the best and the highest

†. Yogabindu : Haribhadra, 284-8.

‡. Tattvarthasutra, VI. 23.

Virtues that the human mind can conceive of, the fullest expression of the potentialities of embodied existence. The Tirthankaras, to whom all the godly powers like omniscience, etc. belong, are adored as ideals of life. The aspirants recall to mind for their own encouragement and edification that there are and always have been those who dedicating themselves to the full realization of the Truth, the Path to Deliverance, and earnestly striving have reached the goal of their search, the eradication of greed, hatred and delusion. Thereby they are exemplars of the Good Life, well conducted, upright, of blameless behaviour, worthy of honour and respect, worthy of being looked up to and followed. The Tirthankara is the symbol of all that is good and great, moral and virtuous. He cleanses this world with the goodness and the sanctity of his life, avoiding evil, promoting good, filling the universe with elevating thoughts of friendliness, compassion and peace. He serves as a beacon light and has nothing to do with Creation, protection and destruction of the world. The Jainas do not believe in these features of God. God, according to them, is not in any sense responsible for the destiny of the universe or the individual. Nor is capable of granting grace to any individual. True to the spirit of their philosopher, the Jainas affirm their faith in the eternal spiritual and moral laws, particularly in the inexorable moral law of Karman. They assert that these laws are inviolable in their operation and God cannot arbitrarily dispense rewards and punishments irrespective of the spiritual desert of the persons and His exercise of the juristic function is limited by the moral law. God cannot alter its course as that will make of God a despot. The moral laws are the laws of His own being which He Cannot subvert. So even those, the Jainas say, who believe in God's operation of the moral law must believe that this law is an impersonal, uncreated, eternal governing principle. therefore it is rational, they say, to accord One's allegiance to this autonomous impersonal law. The injunction of the Jaina Scriptures is that the individual should set himself to the task of overcoming the miseries of the world by dint of personal efforts and without seeking aid from any external agent, such as God, for the purpose. The Jainas admit the efficacy of individual deserts in determining individual fate. They make the individuals the architect of their fortune and the maker of their destiny. The individual beings are alone responsible for their degraded status and it is up to them to work out their salvation by their unaided efforts. They will of Course exploit all the advantages from the Scriptures and the instruction of teachers. But ultimately they must depend upon themselves for their success or failure. The Credit or blame must be taken by them alone. The Jainas, therefore, do not find any urge to postulate any supernatural agency like God as the dispenser of reward and retribution. It is Karman alone which fluctuates and determines the Course of an individual through different births.

The Nyaya-Vaisesika postulates God to account for the effective functioning of the law of moral justice. The spiritual and moral forces, meritorious and demeritorious, are brute facts and they can be made productive of reward or punishment only by an intelligent agent by bringing them into operation. But according to the Jainas, there is no necessity of admitting God as the necessary condition for the fruition of the Karman which remains as an unseen potency (adrsta) consisting in merit and demerit in the soul. The Jaina philosophers hold that events come into being by dint of the causal law, which is a natural brute force, independently of the agency of an intelligent being. They assert that moral and Spiritual laws are effective just like the brute laws of nature by reason of an inherent natural necessity. They do not, therefore, consider the theory of intelligent supervision and personal operation of moral laws by a divine being as logically necessary. The Jaina, like the Sankhya-Yoga, the Buddhist and the Mimamsaka, regards the unseen potency itself as competent to produce its fruit in time. The nature of predispositions or the impurity by of the soul determines the character of the Karman or adrsta. The Karman or adrsta as determined by the conditions and predispositions of the soul can automatically produce the fruits. The karman or adrsta has inherent capacity to fructify itself. Thus is avoided by the Jainas the necessity of the agency of God for the fruition of Karman.

All admit that the ills and evils of life are the outcome of karman and not due to any Caprice of the creator. If it is so, asks the Jaina philosopher, then what is it that God does? Why should we prefer to indulge in such complexities? Let Karman alone account for the creation of the world. It has no agent behind, directing it or administering it. The Yoga system admits God only as an object of worship or meditation and not as an agent in the fruition of the karman-though in the Brahmasutra of Badarayana, the agency of God in the dispensation of the fruits of acts, moral and immoral, is advocated with vehemence, it, however, loses metaphysical validity in the philosophy of Sankara who accords a provisional place to Personal God in his Vedanta. Personal God as the creator, sustainer and destroyer of the world-order is necessary only so long as maya holds sway. But maya is unreal as a metaphysical entity and as such God's place is only provisional and not more than penultimate. God, according to the yoga system also, who is a Supreme person, is not considered to be the creator of the universe. He is omniscient and eternal witness to all right actions. Tirthankara of the Jainas, too, is omniscient but not the creator of the universe. Herein the Jaina philosophy marks a striking parallelism to yoga theism. But according to the Nyaya Vais'eska, God is a dynamic principle and His dynamism is manifested in His cosmic activities. Cosmic activities are an essential part of His being, and Godhood minus Cosmic functions is an unintelligible fiction. Desire for creation is innate to divine

nature.¹ If, the Jainas ask, it is held that God by his very nature takes to creation, then what is the good of admitting his existence. We would rather dispense with him and posit that the universe has come into existence by its nature.² thus we see that the hypothesis of a personal God is inconsistent with the law of Karman. The exalted position of providence turns pale and stale in the presence of the doctrine of Karman. All religions, whether of theistic or atheistic persuasions in India, therefore, assert supremacy of the law of karman. Good and evil actions of human being have been given more recognition than the redeemer himself even in the theistic schools. The consequences of the past misdeeds can only be counteracted by generating within the soul strong opposite forces of good thought, good speech and good action. It is the prerogative of human life that it has the opportunity to get rid of the burden of the heritage of Karman which it has acquired from beginningless past. One must undergo a course of self-discipline in order to manifest ethical perfection, to make God real in him. The Jaina believes in God as immanent in the individual though he is indifferent to his role as creator and Saviour in his metaphysical conclusions. Nobody can dispense with the necessity of moral and spiritual discipline as the necessary precondition of Her mercy. But the descent of the Divine Grace cannot be arbitrary. It necessarily presupposes a spiritual preparation of the individual self as a condition. The Jaina would have it that this very condition automatically leads to the succeeding stages of spiritual development. The Divine Grace is nothing but the attainment of right conduct as a result of spiritual preparation or Self-discipline. the Jainas do not bank on the grace of a personal God. Belief in the conservation of moral values is the necessary Con-comitant of religious faith and God is the conservator of these values. God cannot repudiate the law of moral justice. The Jainas think that the moral values are realized in excelsis in the Tirthankaras, and So their worship is not misplaced. To the Jaina, the image of Tirthankara in itself is not an object of worship; it is to him merely a token, a symbol, a presentation, which helps him to recall the sublime qualities of the Tirthankara. For the purposes of his worship, it is even immaterial whether there is an image or not, but an image or a picture or some sort of symbol, he finds helpful for the Concentration of his thoughts. Here is no request for favours, no solicitation for protection, Prayer does not mean supplication to the Tirthankara, petitioning him, humbly asking him to bestow upon the supplicator health, happiness and prosperity, and asking him for forgiveness for sins committed. Prayers are offered to the Tirthankaras

1. Vide Nyayavarttika of Uddyotakara, pp. 949-50.

2. Atha svabhavath, tarhy achetanasya' pi jagata eva svabhavatah pravrttir astu, kim tat Kartrvakalpanaya--Tarkarahasyadipika of Gunaratna. 3. See yasovijayavrtti on yogasutra, I. 26.

only for guidance and inspiration. By meditating on the pure qualities of the liberated ones, the Jainas remind themselves of the possibility of attaining the high destiny and strengthen their heart for the uphill journey to liberation. This shows that the aspiring soul has transcended his attachment to the world and this is the condition of emancipation. The devotee must immolate his individuality before the altar of God. This is the highest dispassion which is affirmed to be the necessary precondition of emancipation. Thus the individual soul attains the Supreme Status only by dint of his personal effort and does not depend upon the grace of God.

Thus each and every individual must work out his own salvation. No one is considered to be eternally free and perfect. Even God is not eternally free and perfect. Eternal perfection attributed generally to God by other systems, the Jainas say, is a meaningless epithet. Perfection, therefore, means only a removal of imperfection and it is meaningless to call a being perfect who was never imperfect. Even the Tirthankara himself is not eternally free and perfect and has worked out his own emancipation exactly in the same way as the other individual beings do. The difference between an ordinary omniscient and a Tirthankara is this that the latter can reveal and preach the truth and found a religious community while the former cannot. The worldly career of a soul destined to be a Tirthasikara is purer and much more spiritually elevated than that of an ordinary soul destined to be emancipated. Moreover, a soul can attain Siddhahood without being a Tirthankara. Every Tirthankara becomes a Siddha, but not that every Siddha was a Tirthankara. Tirthankara in his life, just preceding liberation where he becomes a Siddha, devotes some of his time to teach the path of liberation to the aspiring souls. The Tirthankara is a spiritual leader and an inspirer and a reviver or founder of a religion. It is the Tirthankara alone who can reveal the truth and inspire the common masses, that is why the world of aspirants feels more devotion to Tirthankaras. This is the conception of Godhead in Jainism.

Jainism, thus, is a religion without belief in Personal God. To the followers of Semitic creeds it may appear almost paradoxical that there may be religion without belief in God. Quite strange though it may seem at first, it is not irrational in any sense. A religion, worth the name, must believe in the Conservation of moral values. Even God's omnipotence is subject to the supremacy of the moral law. Hence, disbelief in God does not mean that Jainism has no regard for moral values. Whatsoever religion it may be, it must recognize moral values, if it does believe in the spiritual development of the soul. Here the question of belief in God is not relevant. Here is Jainism, one of the great religions of India, which is found characterised by the same fervour of faith of its followers as is the characteristic of theistic religions. Would it, thus, be pertinent to remark that a religion is preposterous nonsense without belief in God ?

Jain Philosophy of Non-absolutism & Omniscience

Prof. Ram Jee Singh

Bhagalpur University.

In Jainism, non-absolutism is not only a metaphysical but also an epistemological Concept. There is no absolute reality, so there is no absolute truth where there is isolation, there is unreality or error

1. IS NON-ABSOLUTISM ABSOLUTE ? If non-absolutism is absolute, it is not universal, since there is one real which is absolute, and if non-absolutism is itself non-absolute, it is not an absolute. But there are the following points for consideration : —

(a) According to the Jainas, complete judgment is the object of valid knowledge (PRAMANA) and Incomplete Judgement is the object of aspectal knowledge (NAYA) Hence, the "non-absolute is constituted of the absolute as its elements and as such would not be possible if there were no absolutes."

(b) The unconditionality in the statement "All statements are conditional" is quite different from the normal, meaning of unconditionality. This is like the idea in the sentence, "I am undecided", where there is at least one decision that I am undecided. Similarly the categoricity behind a disjunctive judgment (A man is either good or bad) is not like the categoricity of an ordinary categorical judgment (The horse is red).

(c) Samantabhadra says "Even the doctrine of non-absolutism can be interpreted either as absolute or non-absolute according to the PRAMANA or NAYA respectively. This means that even the doctrine of non-absolutism is not absolute unconditionality."

1. Mookerjee, S, : THE JAINA PHILOSOPHY OF NON-ABSOLUTISM
Bharti Mahavidyalaya, Calcutta, 1944, P. 171.

2 Bradley, F. H. THE PRINCIPLES OF LOGIC, Oxford, 2nd Ed.
VOL. I, P. 130.

3. SAMANTABHADRA : SVAYAMBHU STOTRA, K. 103, Vira Seva
Mandir, Sarsawa, 1951, P. 67, and
Abhidharma Bhusana : NYAYA-DIPIKA, Vira Seva Mandir, Sarsawa
1945, pp. 128-129 (Ed. Darparilal Kothia).

(d) However, to avoid the fallacy of infinite regress, the Jainas distinguish between valid (SAMYAK ANEKANTA) and invalid non-absolute (Mithya Anekanta).⁴

Like an invalid absolute judgment, an invalid non-absolute judgment too is invalid. To be Valid, ANEKANTA must not be absolute but always relative. In short, the doctrine of non-absolutism is an "opposite (theory) of EKANTA-VADA, a one-sided exposition irrespective of other view points."⁵

Now, we cannot say that theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.⁶ Thought is not mere distinction but also relation. Everything is possible only in relation to and as distinct from others, and the Law of Contradiction is the negative aspect of the law of identity. Under these circumstances, it is not legitimate to hold that the hypothesis of an absolute cannot be sustained without the hypothesis of a relative. Absolute to be absolute presupposes a relative somewhere and in some forms, even the relative of its non-existence.

Jaina logic of ANEKANTA is based not on abstract intellectualism but on experience and realism leading to a non-absolutistic attitude of mind. Apparently contradictory characteristics of reality are interpreted to be co-existent in the same object from different points of view without any offence of logic. All cognitions, be it of identity or diversity are after all valid. They seem to be contradictory of each other simply because one of them is mistaken to be the whole truth.⁷ In fact, the integrity of truth consist in this very variety of its aspects, within the rational unit of an all comprehensive and ramifying principle.⁸ The charge of contradiction againts the co-presence of being and non-being in the real is a figment of a priori logic.⁹

2 IS KNOWLEDGE ABSOLUTE? Absolutism is unknown to Jaina metaphysics and its metaphysics of knowledge. The division of knowledge

-
4. Samantabhadra : APTAMIMAMSA, K. 108, Sanatana Jaina Granthamala, Kasi, 1914; ASTA SAHASRI of Vidyananda, Nirnaya sagar Press, Bombay, P. 290, and NAYAYA-DIPIKA, P. 130-31.
 5. Kapadia, T. R. (Ed.) ANEKANTA, JAVAPATAKA of Haribhadra, G. O. I Baroda 1940, Vol. I. P. IX (Introd).
 6. RadhaKrishnan, S: INDIAN PHILOSOPHY, London, 1929, Vol I. pp. 305-6.
 7. Sanghvi, S : ADVANCED STUDIES IN INDIAN LOGIC & METAPHYSICS Calcutta, 1961, P. 19.
 8. Desai, M. : THE NAVA KARNIKA, Arrab, 1915, P. 25 (Intr.)
 9. Mookerjee, S. : Ibid. P. 190. C. F. BRAHMA SUTRA (S. B.) II 2.33. and SYADAVADA MANJARI of Mallisena-Verse 25.

into immediate and mediate,¹⁰ though not free from the fallacy of overlapping division, but nevertheless is based on common experience¹¹. However, this trend towards non-absolutism becomes more explicit in the further classification of knowledge into PRAMANA (Knowledge of a thing as it is in itself) and NAYA (knowledge of a thing in its relation), the former being complete (SAKALADESA) and the latter being Incomplete knowledge (VIKALADESA) ¹²

True, the terms 'immediate' and 'mediate' are used in different senses. Jainas deny the immediate, the character of the ordinary perceptual knowledge like the western Representationalists but unlike the Realists. The knowledge is direct or immediate if it is born without the help of an external instrument different from the self. However, to avoid sophistication and also to bring their theory in line with others, a distinction is made between really immediate and relatively immediate—the latter being empirically direct and immediate knowledge produced by the sense organs and the mind.

PRAMANA and NAVA represent roughly the absolute and the relative characteristic of knowledge respectively. PRAMANA reveals a relational structure of knowledge i. e., knowledge of an object in all its aspects. The universe is an interrelated whole hence right knowledge of even one object will lead to the knowledge of the entire universe.¹³ This shows the relative character of our knowledge but this relativism is realistic. It not only asserts a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths.¹⁴ So it is a mistake of finding one absolute truth or even one cognition of the plurality of truths.

If knowledge is a unity, known is a plurality, the objective category being distinction or togetherness. If finally, knowledge as the object, refers to the known, the known must present an equivalent of this relation or reference.¹⁵ What is therefore needed is to dehumanise the ideal and realise the real. The reality is not a rounded ready-made whole or an abstract unity of many definite or determinate aspects but that "the so called unity is after all a manifold being only a name for fundamentally different aspect of truth

10. Tattvartha Sutra I. 11-12 : PARIKSHAMUKHAM of Manikyanandi II. I.

11. Prasad, R. : His article on "A critical Study of Jaina Epistemology," in JAINA ANTIQUARY, Vol. XV No. 2. Jan. 1949 pp. 66-7

12. SARVARTHA SIDDHI of Pujjapada, Jnana Pitha, Kasi, pp. 20-21.

13. ACHARANGA SUTRA, I 3. 4. 122; PRAVACHANA SARA of Kundakunda I. 48-49

14. Bhattacharya, K. C. : His article on "The Jaina Theory of Anekantavada" in JAINA ANTIQUARY, Vol. IX. No. 1.

15. Bhattacharya, K. C. Ibid, pp. 10. 11.

which do not make a unity in any sense of the term.¹⁶ So far we know or can know, the making of truth and reality is one. Reality like truth is therefore definite indefinite (ANEKANTA). Its indefiniteness follows from the inexhaustible reserve of objective reality and its definiteness comes from the fact that it grows up into the reality of our own knowing which we make.

So, in Jainism, non-absolutism is not only a metaphysical but also an epistemological concept. There is no absolute reality, so there is no absolute truth where there is isolation, there is unreality or error.¹⁷

3. DISTINCTION BETWEEN SYADVADA AND SARVAJNATA :—

SYADVADA, however pivotal, is not the final truth in Jainism. It simply helps us in arriving at the ultimate truth. It works only in our practical affairs and hence it is regarded as practical truth.¹⁸ But there is another realm of truth which is not in anyway partial or relative but absolute and which is the subject-matter of omniscient or perfect knowledge.

Let us illustrate some points of difference between these two types of knowledge. SYADVADA and SARVAJNATA :—

(a) The immediate effect of valid knowledge (PRAMANA) is the removal of ignorance; the mediate effect of the absolute knowledge is bliss and equanimity, while the mediate effect of practical knowledge or SYDVADA is the facility to select or reject¹⁹ what is conducive or not for self-realization. PRAMANA or JNANA is the right knowledge. The development of omniscience is necessarily accompanied by that of perfect or absolute happiness,²¹ being free from destructive Karmas.²² This happiness is independent of everything and hence eternal. It is not physical but spiritual.²³ It is not the pleasure of these senses which are in fact miseries in disguise, the cause of bondage and hence dangerous.²⁴

16. Bhattacharya, H. M. : His article on "The Jaina Concept of Truth & Reality" in the PHILOSOPHICAL QUARTERLY, Calcutta Vol. III No. 3 October.

17. (C. P.) Bradley F. H. ESSAYS ON TRUTH Reality. p. 487.

18. Sidhsena Divkara : SANMATI TARKA, 3168.

19. NYAYAVATAR of Sidhasena, V. 28 : Apta Mimansa of Samntab hadra pp. 104.

20. NYAYA-DIPIKA, P. 9; PRAMANA-MIMANGSA of Hemachandra I 1. 2.

21. PRAVACANA SARA, I 19; I. 59, I 69.

22. Ibid, I 60.

23. Ibid, I 65.

24. Ibid, I 63-64, I 76. CP. PARAMATMA-PRAKASA of Yogindu V. 201.

(b) Both SYADVADA and KEVALAJNANA illumine the whole reality, but the difference between them is that while the former illumines the object indirectly, the latter does it directly.²⁵ Vidyānanda finds no contradiction between the two kinds of knowledge, since by "illumining the whole reality," it means revelation of all the seven categories of self, not-self etc.²⁶ This shows that the spirit of SYADVADA is so foundational to Jainism being associated with the Great Victor that it is regarded as flawless²⁷ and on almost equal footing with KEVALAJNANA.

(c) while in SYDVADA, one knows of all the objects in SUCCESSION, in the case of KEVALA JNANA, it is simultaneous.²⁸ Omniscience means an "actual direct non-sensuous knowledge, the subject-matter of which is all the substances in all their modifications at all the places and in all the times. It is regarded as simultaneous, because if it is successive, it cannot be omniscience, since the objects of the world in shape of past, present and future can never be exhausted. Consequently knowledge will always remain incomplete."²⁹

But there might be difficulties even if we regard omniscient knowledge as simultaneous :—

(i) The omniscient person comprehends contradictory things like heat and cold by a simple cognition which seems absurd.³⁰ To this objection, it may be replied that contradictory things like heat and cold do exist at the same time, for example, where there is flash of lightning in the midst of darkness, there occurs a simultaneous perception of the two contradictory things.³¹

(ii) If the whole world is known to the omniscient person all at once, he has nothing to know any further and so he will turn to be quite unconscious having nothing to know,³² to this, it may be said that the objection would have been valid if the perception of the omniscient person and the whole world were annihilated in the following instant. But both are everlasting, hence there is no absurdity in the Jaina³³ position regarding the simultaneity of omniscient perception.

25. APTAMIMAMSA, K. 105.

26. ASTA-SAHASTI, P. 288.

27. SYAMBHU STOTRA, V. 133.

28. APTA MIMANSA—V. 101.

29. PRAMEYA-KAMALA-MARTANDA, of Praphachandra N. S
Bombay, p. 254.

30. PRAMEYA—KAMALA-MARTANDS, p. 254

31. Ibid, p. 260

32. Ibid, p. 254.

33. Ibid, p. 260.

(D) The most fundamental difference between Syadvada and Sarvajnata is that the former "leads us to relative and partial truth where as omniscience to absolute truth,³⁴ because Syadvada is an application of scriptural knowledge³⁵ (a kind of mediate knowledge) which determines the meaning of an object through NAYAS.

True, SYADVADA has in its sweep all the different NAYAS, but even then it never asserts the absolute truth. It remains an attitude of philosophizing which tells us that on account of infinite complexities of nature and limited capacity of our knowledge, what is presented is only a relative truth. Now, if we combine the result of the seven-fold NAYAS into one, can we not get at the absolute truth? Is not the absolute truth a sum of relative truths? The answer is in the negative. Firstly, the knowledge arrived at through the alternative NAYAS does not and cannot take place simultaneously but in succession leading to the fallacy of infinite regress.³⁶ To regard SYADVADA as absolute is to violate its very fundamental character of non-absolutism. Samanabhadra has very explicitly said that "even ANEKANTA (non-absolutism) is ANEKANTA (non absolute) in respect of PRAMANA and Naya.³⁷ Real Anekanta is never absolute but always relative³⁸ to something else. However, omniscient knowledge is the knowledge of the absolute truth.

(E) SYADVADA rests on sense perception but KEVALA JNANA has no dependence on any sense and arises after destruction of obstruction,³⁹ directly by the soul without any intervention of the senses.⁴⁰ Like the western Realist, the Jains regard ordinary sense-perception as really mediate in. Thus the status of omniscient perception is naturally raised as supreme knowledge.

(4) CONCLUSION—We have the following points :—

(a) IMPORTANCE OF ANEKANTA LOGIC—The loss caused by Anekanta (Syadvada) by its being mediate is fully made up by its capacity to demonstrate the truth of the absolute wisdom to mankind. This is the perfect technique of expressing the manifold nature of reality and is indispensable for

34. ANEKANTA—Jaya-pataka, Vol. II, p. Cxx.

35. LAGHISTRAYA of Akalanka, k. 62.

36. NYAYA-KUMUDA-CHANDRA of Prabhachandra, p. 89.

37. SYAMBHU-STOTRA, K. 102; SANMATI TAZKA-III 27-23.

38. ASTA-SAHASRI-p. 290.

39. PARIKSHAMUKHAM, II, II; TATTVARTHASUTRA, X. I; PRAMANA-MIMAMSA, I. 1. 15.

40. PRAMANA-NAYA-TATIVALOKALANKARA, II. 18.

practical life.⁴¹ This is also the method of Mahavira's sermons,⁴² hence religious is character.

(b) THE DUAL NATURE OF ANEKANTA-EKANTA & ANEKANTA-It is Ekanta in as much as it is an independent view point, it is Anekanta because it is the sum total of view points. Anekanta goes Ekanta when it goes against the right view of things.⁴³ i.e., it also assumes the form of one-sidedness. However, the Jains do not have objection if his doctrine recoils on itself on the contrary, it strengthens his position and shows the unlimited extent of the range.⁴⁴

c) BEYOND ANEKANTA—The importance of anekanta lies more in its analytical enquiry than in concrete results. It is a way of philosophizing rather than a system of metaphysics. The demand of higher spiritual life of a Yogin transcending the sphere of the phenomenon points to the realisation of complete unity of existence in his consciousness. He is in possession of absolute truth which transcends the realm of provisional truth.⁴⁵ This is the state of supreme knowledge free from all limitations like intuitional or mystic experience, where we get a direct, immediate and first hand intuitive apprehension of the reality. Kunda kunda⁴⁶ and Yogindu⁴⁷ are outspoken Jain mystics.

(d) FROM ANEKANTA TO ADVAITA VIA OMNISCIENCE—So far Jainism puts the highest value on the mystical experience of a Kevalin who transcends the realm of the phenomenal and reaches at the absolute truth, "it approaches very near to Advaita Vedanta."⁴⁸ Yogindu's identification of the spirit with the super-spirit is a triumph of monism. Like vedantic distinction between the empirical and the transcendental knowledge, we have in Jainism a distinction between Syadvada & Sarvajnata. However, the objectivity is not outside the knower in Advaita Vedanta. In Jainism, there is a complex external objectivity infinitely over both time & place and the individual self retains its individuality even in the search of omniscience and bliss.⁴⁹ Hence any synthesis of ANEKANTA with ADVAITA will be with due reservations.⁵⁰

41. SANMATI TARKA II. 68.

42. BHAGVATI SUTRA, VII. 2.273; XIII.7.495; SYAMBHU STOTRA, 4 & 45.

43. SANMATI TARKA, III 28.

44. ANEKANTA JAYA-PATAKA, Vol. II (Intro) p. CVII.

45. Shastri, p. His article on "The Jaina Doctrine of Syadvada with a Pragmatic Background" in SIDDHA-BHARTI, Vol. II. P. 93.

46. PRAVACHANA-SARA, I 35; I. 60; I. 61 I. 29; II. 106.

47. PARAMATMA-PRAKASHA, II. 174, II. 201; II 195; Yogasara-V 8, 9.

48. Shastri, op. Ibid, p. 13, cp. Author's article on "Advait Trends in Jainism" in 'DARSHNIK' 1959.

49. PRAVACHANA SARA-INTROD. LXXVII.

50. Sanmati-TARKA, I 49, I 50; APTA-MIMAMSA, 24, 25 TATTVARTH-SLOKA-VARTIKA I 23-58.

प्रतिवेदन

भारतीय जैन साहित्य संसद्की स्थापना विशाल और समृद्ध जैन साहित्यको प्रकाश में लानेके हेतु हुई है। इस बीसवीं सदीमें विभिन्न ग्रन्थागारोंके कई सतक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं। यह सत्य है कि जितने ग्रन्थोंका मुद्रण अज्ञातविद्वा है, उनसे कई गुने ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। अधिकांश ग्रन्थागारोंकी प्रामाणिक विवरण-सूचियां भी अनुपलब्ध है। राजस्थानके जैन-शास्त्र-अण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचियां ४ जिल्दोंमें महावीर जैन शोध-संस्थान जयपुरके तत्त्वावधानमें प्रकाशित हो चुकी है। इन ग्रन्थ-सूचियोंके सामने आनेसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओंमें लिखित सहस्राधिक ग्रन्थ केवल धामेर और जयपुरके ग्रन्थागारोंमें ही सुरक्षित हैं। इन महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके मुद्रणकी तो आवश्यकता है ही, पर साथ ही व्यावर, अजमेर, भालरापाटन, नागौर, आरा, सूरत, दिल्ली, बन्देरी, रोहतक, पानीपत एवं हिसार प्रभृति स्थानों के ग्रन्थागारोंकी पाण्डुलिपियोंके विवरण भी प्रकाशित होनेकी नितान्त आवश्यकता है।

भारतीय ज्ञानपीठके तत्त्वावधानमें मूडबिंद्रीके ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी एक विषय-सूची प्रकाशित हो चुकी है, पर अभी भी दक्षिण-भारतमें ऐसे अनेक मठ और मन्दिर हैं जिनमें कई सहस्र जैन ग्रन्थ वर्तमान हैं। ग्रन्थ-तालिकाओंके अभावमें महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका उपयोग नहीं हो पाता है, अतः यह संसद् अपने उद्देश्यानुसार विभिन्न ग्रन्थालयों, मन्दिरों, मठों एवं भट्टादिकीय गृहियों के ग्रन्थोंकी विवरण सूचियां प्रकाशित कराने का आयास कर रही है।

संसदने अल्प समयमें ही शोध और खोज करनेवाले कई जिज्ञासुओंको परामर्श, ग्रन्थ-प्रेषण एवं विषयके विशेषज्ञ विद्वानोंसे सम्पर्क-स्थापन द्वारा साहाय्य प्रदान किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालयमें श्रीस्वप्ना बनर्जी धर्मशर्माप्रियुदय महाकाव्य पर तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन कर रही हैं। श्री बनर्जी को आरा जैन सिद्धान्त भवनसे सभी प्रकारकी ग्रन्थ-सम्बन्धी सहायताएँ दिलानेका प्रयास यह संसद् कर रही है। संसद्के परामर्श-मण्डलने कुछ परामर्श एवं सन्दर्भ-ग्रन्थोंकी तालिका भी उक्त अध्येत्रीके पास भेजनेकी व्यवस्था की है।

बैंगलोरमें श्री बी० अन्नपूर्णा 'बाहुबलि' पर शोध-कार्य कर रही हैं। संसद्-कार्यालयमें उचित साहाय्य प्राप्त करनेके लिये आपका पत्र प्राप्त हुआ है। संसदने बाहुबलि सम्बन्धी सन्दर्भ एवं बाहुबलि को नायक मानकर लिखे गए महाकाव्य और खण्डकाव्योंकी जानकारी प्रेषित की है। कार्यालयने जो सन्दर्भ-तालिका प्रस्तुत की है वह शोध-ग्रन्थकी विस्तृत रूपरेखा ही है।

नवीन कार्य करनेवाले ५-६ शोध-कर्त्ताओंको विषयोंके अनुसार सहायता प्रदान की गई है। श्री नरेन्द्र विशार्थी, मलहरा, श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री, छतरपुर, प्रो० सूरजमुखीदेवी मुखपफरनगर, प्रो० जे० पिण्डई मद्रास विश्वविद्यालय, प्रो० ए० एन० मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालयको विषय एवं उन विषयोंकी रूपरेखाएँ भी भेजी गई हैं।

नवलेखनके क्षेत्रमें भगवाद् महावीर पर गौरसेनी-प्राकृतमें कवि श्री रामनाथ पाठक प्रणयी M. A. साहित्य-व्याकरणार्थ एक महाकाव्यका प्रणयन कर रहे हैं, जिसका प्रथम अध्याय लिखा

जा चुका है। इसी प्रकार लगभग ७०-८० जैन कथानकोका आधार ग्रहण कर एक उपन्यास एवं छोटी-छोटी कथाएँ लिखे जानेकी प्रेरणा संसद् द्वारा दी जा रही है। समय कम रहनेसे संसद्के पास अभी इस प्रकारके आंकड़े नहीं हैं कि नवसेसनके क्षेत्रमें कहीं और कितना कार्य वर्त्तमानमें हो रहा है? यद्यपि पत्राचार द्वारा संसद् इस प्रकारके आंकड़ोंको एकत्र कर रही है और कुछ विवरण भी कार्यालयको प्राप्त हो चुके हैं।

विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें जैन साहित्यपर की जानेवाली शोध और खोजकी जानकारीके लिये अनेक विश्वविद्यालयोंके हिन्दी, संस्कृत, इतिहास एवं दर्शनके विभागाध्यक्षोंसे सम्पर्क स्थापित किया जा चुका है। कई विश्वविद्यालयके संस्कृत-विभागाध्यक्षोंने अपने यहाँके कार्य-विवरणको शीघ्र ही भेजनेकी लिखा है। इसी प्रकार विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैनमें जैन साहित्य पर किये जाने जाने वाले कार्योंका विवरण भी संसद्ने प्राप्त करनेका प्रयास किया। अभी तककी जानकारीके आधार पर हम यह घोषणा करनेमें गौरवका अनुभव करते हैं कि भारतके विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें ३५ व्यक्ति जैन साहित्य पर शोध-कार्य कर रहे हैं। संसद् द्वारा आयोजित दोनों संगोष्ठियोंके लिये विषय-तालिका पत्रोंमें प्रकाशित की जा चुकी है? इन शीर्षकोंमें ऐसे भी कई शीर्षक हैं जिनपर पी० एच० डी० एवं डी० लिट्के लिये शोध-कार्य किये जा सकते हैं।

संसद्के पास अर्थभाव है। अतः अपने सीमित साधनोंके बीच उसे कार्य करना है। हम घाराकी स्वागत-समितिके प्रति आभार व्यक्त करने हैं, जिमने इस संसद्का अधिवेशन अपने यहाँ आयोजित किया है।

वरबारीलाल कोठिया

घारा,

६ जनवरी १९६४,

संयोजक:

भारतीय जैन साहित्य संसद्



सम्पादकीय

वर्तमान शोध-खोजका युग है। प्राचीन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानोंकी संख्या दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत हो रही है और अन्व्यकाराच्छादित अनेक मूल्यवान् ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहे हैं, जिससे मानव-जीवनकी साम्प्रतिक समस्याओंके सुलभानेमें पर्याप्त सहयोग प्राप्त हो रहा है। विद्वानोंके समानान्तर ही कई नवीन प्रकाशन-संस्थाएँ भी जन्म ले रही हैं और प्राचीन वाङ्मयके साथ नवीन साहित्य भी बड़ी तेजीके साथ प्रकाशमें आ रहा है। पर समृद्ध जैन वाङ्मय अभी भी विपुल परिमाणमें अप्रकाशित ही पड़ा है और जो प्रकाशित है, वह भी शोध-खोज करनेवालोंको उपलब्ध नहीं हो पाता है।

जैन वाङ्मय भारतीय वाङ्मयका एक अभिन्न अंग है। प्रत्येक शोधकर्ता इस वाङ्मयकी अमूल्य मणियोंके प्रकाशसे परिचित है। जैनाचार्योंने समयकी गतिविधिको पश्चा या और युगानुसारी स्थायी रचनाओंका प्रणयन कर मानवकी मानसिक शुधाको तृप्त करनेका प्रयास किया। युगानुसार बदलते हुए जीवन-मूल्योंको क्रान्ति-द्रष्टाके रूपमें समझा और नवीन प्रतिमानोंके अनुसार साहित्यका सृजन किया।

राज्याश्रय और जैन वाङ्मय :

जैनधर्मका उद्धान भगवन्में हुआ, पर साहित्य-प्रणयनके केन्द्र दक्षिण भारत, उज्जयिनी, मथुरा, काठियावाड़ और बलभी रहे हैं। ई. पू. १६० में कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारबेलने उड़ीसाके कुमारी-पर्वत पर एक मुनि-सम्मेलन बुलाया था, जिसमें साहित्य-निर्माण-आन्दोलनका भूतपात किया। मथुरा-मंथने इस आन्दोलनको गति प्रदान की और पुस्तकधारिणी सरस्वती देवीकी विशाल भूमितियाँ प्रतिष्ठित कर वाङ्मयकी रचना और उसके प्रसारको मूर्तरूप प्रदान किया। इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारतमें भूतबलि, पुण्यवन्त, कुन्वकुन्व, शिबार्थ, गूढपिच्छ, समन्तभद्र प्रभृति अनेक आचार्य ईस्वी सन् प्रारम्भके आसपास ही ग्रन्थ-प्रणयनमें संलग्न हो गये। पाटलिपुत्रमें भी जैनागमोंके संकलनका कार्य प्रारम्भ हुआ।

दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब, गंग, होय्सल, राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके नाम जैन मनीषियों को प्राश्रय देनेमें प्रसिद्ध हैं। कदम्ब वंशके शान्तिवर्माके पुत्र भृगुशर्मा द्वारा अपने राज्यके प्राठवें वर्षमें यापनीय, निर्गन्ध और कूर्चक मुनियोंको भूमिदान दिये जानेका उल्लेख है^१। अभिलेखोंसे

१. [या] तितो वसी करोति । तेरसमे च वसे सुखतविजयचको कुमारीपर्वते अर्हत्तोपरि निवासेताहिकाये निसिदिवाय या पूजावकोहि राजभितानि च नक्तानि बधु सतानि [।] पूजानि [सबन] [स थ] २ व [तिरिको ?] जीवदेवकाले रक्षिता । सुक्त समण सुविहितानु च सत दिशानु खतियं तपस...सह यानु अरहत निसोदिया समीपे पथरे—खारबेल शिलालेख पं० १४-१५।

२. श्रीविजयपलाशिकाम्या यापनि (नी)मनिग्रन्थकूर्चकानां स्ववैजयिके अष्टमे वंशाक्षे संवसरे कात्तिकपीर्णमास्याम् ।...श्रीविजयवैजयन्तीनिवासी इतवाम् भगवद्भ्योऽर्हद्भ्यः तत्राज्ञातिः ।
—जैनशिलालेखसंग्रह द्वितीयभाग, मा०दि० जैन ग्रन्थ० बम्बई, वि० सं० २००६, लेखसं० ९९५०७३ ।

भवगत होता है कि मुंगेश्वरमणि पुत्र रविवरमणि यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारवत्सको पुरुषोत्तम ग्राम दानमें दिया था। इसी प्रकार कदम्ब वंशकी दूसरी शाखाके युवराज देववर्मने यापनीय संघकी कुछ क्षेत्रोंका दान देकर साहित्य-निर्माणके लिए प्रोत्साहित किया था।

जैनाचार्य सिंहनन्दीने गंग-राजवंशकी स्थापनामें बड़ी सहायता प्रदान की थी। गोम्मतसार-भूतिके कर्ता भ्रमयचन्द्र त्रैविद्य-चक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थकी उत्थानिकामें इस बातका उल्लेख किया है। कहा जाता है कि इस वंशके संरक्षणमें उच्चारणाचार्यने कसायपाट्टडके यतिवृषभदत्त चूर्णी-सूत्रों पर भूति लिखी। शमकुण्ड और वप्पदेवने भी आगमों पर टीकाएँ लिखीं। कुचि भट्टारक और नन्दिमुनिने पुराण-ग्रन्थ लिखे। ये नन्दिभट्टारक पेरुर-विषय के गंगराज आर्यवर्मन् के गुरु थे। ई० सन् ४०० के लगभग कवि परमेश्वरीने संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित वागर्थसंग्रह नामक पुराणग्रन्थ इस वंशके शासनकालमें लिखा था। सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि इस वंशके सातवें नरेश दुर्विनीतके राजगुरु थे। इन्होंने युवराज दुर्विनीतको शिक्षा प्रदान की थी। देवनन्दिने जैनेन्द्रव्याकरण, समावितन्त्र आदि ग्रन्थोंकी रचना भी इस वंशके राज्याश्रयमें की थी।^१ इनके शिष्य गुणगुणन्दि (५५० ई०) ने जैनेन्द्रप्रक्रिया, वज्रभीवने नवगणद्वयव्याख्य, पात्रकेसरीने त्रिलोकशतकवर्धन, श्रीवर्धदेव (६००-६२५ ई०) ने बूडामणिशास्त्र, श्वषिपुत्र (६५० ई०) ने निमित्त-शास्त्र और संहिताग्रन्थ एवं चन्द्रसेनने केवलज्ञानहोरा ग्रन्थोंका प्रणयन इस वंशकी छत्रच्छायामें किया है।^२ गंगनरेश मारसिंहके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने अनेक बड़े-बड़े युद्धोंमें विजय प्राप्तकर नाना दुर्गोंको जीत जैनमन्दिर और स्तम्भोंका निर्माण कराया था। मारसिंहके उत्तराधिकारी रायमल्ल (चतुर्थ) के मन्त्री तथा सेनापति वीर^३ चामुण्डरायने अवणबेल्गोलके विन्ध्यगिरि पर्वत पर चामुण्डरायवसतिका निर्माण कराया और गोम्मेटश की विशाल भूतिकी स्थापना भी की। चामुण्डरायने कन्नड़ भाषामें चामुण्डरायपुराणकी भी रचना की है। इसकी प्रेरणा और प्रार्थनासे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने गोम्मेटसार, लविसार, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंकी रचना की।

जैन वाङ्मयके प्रणयनमें सहयोग देनेवाले राजवंशोंमें राष्ट्रकूट वंशका भी महत्वपूर्ण स्थान है। गोविन्द तृतीयके पञ्चात् इस वंशमें अमोघवर्ष राजा हुए, जिन्होंने सन् ८१५ से सन् ८७७ तक राज्य किया। इनके समयमें जैन साहित्यकी पर्याप्त समृद्धि हुई। वीरसेन स्वामीके पट्टशिष्य सेनसंघी

१. ते र वे: पुष्यार्थं स्वपितुमन्नि दत्तवाम् पुरुषोत्तमं । जिनेन्द्रमहिमा***।—वही, लेख-सं० १००, पृ० ७५।

२. देववर्मयुवराजः स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशितः धर्मप्रवर्तनस्य अर्हतः भगवतः चैत्यालस्य भग्नसंस्कारार्चयनमहिमार्थं यापनीयसंवेभ्यः***। —वही, लेखसं० १०५, पृ० ८३।

३. जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग, मा०दि० जैन ग्र० बम्बई, वि०सं० १९८४, भूमिका, पृ० ७२।

४. वही पृ० ७२।

५. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि,—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६१, पृ० २५९।

६. वही पृ० २६३ तथा जैन सिद्धान्त भास्कर आरा, भाग १३ किरण १, गोम्मेटश प्रतिष्ठापक, पृ० १-६।

आचार्य जिनसेन स्वामी उसके गुरु थे ।^१ इन्होंने वाटनगरके अधिष्ठानमें सन् ८३७ ई० में जयमवला टीकाको पूर्ण किया । पश्चात् सन्नाटके आग्रह पर मान्यघेठमें आकर पार्श्वानुदय और आधिपुराणकी रचना की । आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्र भी अमोघवर्ष द्वारा मान्य थे । इस सन्नाटने इनको अपने पुत्रका शिक्षक नियत किया था । अतः गुणभद्रने राज्याश्रयमें उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया । कल्याणकारकके रचयिता उग्रदित्य भी इस मन्नाट द्वारा सम्मानित थे । महावीराचार्यने 'गणितसारसंग्रह' की रचना अमोघवर्षके आश्रयमें ही की थी । यापनीय संघके आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्त्तिने 'शाकटायन' नामक शब्दानुशासन की रचना इन्हींके आश्रयमें की थी और इस ग्रन्थकी अमोघवृत्ति नामकी टीका भी आश्रयदाताको भ्रमर करनेके लिए लिखी । अमोघवर्षने संस्कृतमें 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामका नीतिग्रन्थ और कन्नड़में 'कविराजमार्ग' नाम का छन्द और अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ रचा । इस वंशके राजा कृष्ण द्वितीयके आश्रयमें महाकवि गुणवर्मने कन्नड़ भाषामें महापुराणकी रचना की है । कृष्णने कन्नड़ भाषाके जैन महाकवि पोन्नको उभय-भाषा-वक्त्रवर्त्तीकी उपाधिसे विभूषित किया था । सोमदेवने यशस्तिलक एवं नीतिवाक्यामृतकी रचना कृष्णके चालुक्य मामन्तके आश्रयमें सन् १५९ ई०में गंगाधर नगरमें की थी । राष्ट्रकूट वंशके राजाओंमें कृष्ण द्वितीय बहुत विद्यानुरागी था । इसने अपभ्रंश भाषाके महाकवि पुष्पदन्तको राज्याश्रय प्रदान किया था और महापुराण जैसे विशालकाय काव्यगुणमण्डित ग्रन्थ का प्रणयन कराया ।

चालुक्य नरेशोंने कई जैन आचार्यों और लेखकोंको प्रथम देकर साहित्य-रचनाके मार्गको पल्लवित किया । पुलकेशी (द्वितीय) के समयमें जैन कवि रविकीर्त्तिको संस्कृत-काव्य-कलामें कालिदास और भारविके समान पदु बतलाया गया है । लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त अनेक दानपत्रोंमें चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैनाचार्योंको दान दिये जाने का उल्लेख है । स्वाराहवी शताब्दीमें दक्षिण भारतमें जब पुनः चालुक्य नरेशों का वैभव बढ़ा तो अनेक जैन कवि और जैन दार्शनिकोंको इस वंशके राजाओंने आश्रय प्रदान किया । पश्चिमी चालुक्य वंशके सस्थापक तैलपने कन्नड़ भाषाके जैन कवि रन्नको आश्रय दिया । तैलपके उत्तराधिकारी सत्याश्रयने जैन मुनि विमलचन्द्र पण्डितदेवको अपना गुरु बनाया । इस वंशके जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठने कितने ही जैन कवियोंको प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया । तैलपने कवि रन्नको ९९३ ई० में अजितपुराण या पुराणतिलक महाकाव्यके पूर्ण होनेके उपलक्ष्यमें 'कविचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित कर स्वर्ण-दण्ड, चैवर-खत्र, गज आदि वस्तुएँ देकर पुरस्कृत किया । मल्लपकी पुत्री और नागदेवकी पत्नी विदुषीरत्न प्रतिमम्बेने महाकवि पोन्नके शान्तिनाथपुराणकी एक सहस्र प्रतियाँ अपने व्ययसे तैयार करारकर वितरित कीं । इस वंशके राजा जयसिंह द्वितीयने जैन बाहुमयके निर्माणमें बहुत सहयोग प्रदान किया । इसने अपनी सभामें वादिराज सूरिको सम्मानित किया और 'जगदेकमल्लादी' की उपाधि प्रदान की । वादिराजने सन् १०२५ ई० में अपना प्रसिद्ध काव्य 'पार्श्वचरित' रचा । एकीभावस्तोत्र एवं अकलंकदेव कृत न्यायविनिश्चयकी टीका भी इनके द्वारा इसीके राज्याश्रयमें रची गयी । इस वंशके राजा सोमेश्वर प्रथमने जैनाचार्य अजितसेन का सम्मान किया

१. संमर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमञ्जेलम् ।

स श्रीमाम् जिनसेनपूष्यभगवत्पादो जगन्मन्त्रलम् ॥-३० पु०, भा० ज्ञानपीठ, काशी, प्र० पृष्ठो ९

श्रीर उन्हें शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इस राजा की पट्टरानी केतलदेवीने भी अपने सचिव चाकिराज द्वारा सेनगण योगरिगच्छके गुरु ब्रह्मसेनके प्रशिष्य श्रीर आर्यसेनके शिष्य महासेनको सम् १०५४ ई०में दान दिया और साहित्य-सृजनके मार्गको प्रशस्त बनाया। विक्रमादित्य वज्रने जैनाचार्य वासवचन्द्र का सम्मान करके उन्हें “बालसरस्वती” की उपाधि प्रदान की। जैनाचार्य अर्हन्मन्त्र इसके धर्मगुरु थे। इस प्रकार चालुक्य राजाओंने जैनवाङ्मयके प्रणयनमें अग्रपूर्व योगदान दिया। राष्ट्रकूट और चालुक्य नरेशोंमें कई नरेश विद्यारसिक और साहित्य-प्रेमी थे, फलतः उन्होंने बिना किसी भेद भावके जैन साहित्य और संस्कृतिको विकसित किया।

होयसल राजवंश की स्थापना एक जैन मुनि के निमित्त से हुई थी। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल में जैनमुनि वर्षमानदेव का शासन-प्रबन्ध में बहुत बड़ा हाथ रहा है। होयसलों का मूलनिवास स्थान पश्चिमी घाट पर मुद्गरे तालुके में स्थित घंगदि शणकपुर नगर था। यह स्थान जैन वाङ्मय का केन्द्र था। यहाँ जैनाचार्य मुगत वर्द्धमान का विद्यापीठ वर्तमान था, जिसमें अनन्त गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। सल नामक व्यक्ति, जो कि चालुक्यों के साधारण श्रेणी के सामन्तका पुत्र था, इन्हीं आचार्य के पास अध्ययन करता था। सल ने ही इस वंश के राज्य का विस्तार किया। मुगत वर्षमान धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। इस वंश ने अम्भचन्द्र, अजितसेन भट्टारक, दार्शनिक गोपनन्दी, चारकीर्ति पण्डितदेव प्रभृति साहित्यकारों को सम्मानित किया तथा राज्याश्रय देकर साहित्य-प्रणयन के लिए प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त प्रसिद्ध राजवंशों के अतिरिक्त छोटे-छोटे राजवंशों में जैन साहित्य को वृद्धिगत करनेवालों में कलचुरि, रट्ट, शिलाहार एवं कोंगाव्ववंश का विशेष महत्त्व है। भुजबल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुष वर्ष में एक जैनमन्दिर बनवाया और अपने गुरु कनकनन्दि को उस मन्दिर के संरक्षणार्थ एक ग्राम दान में दिया। विजयनगर साम्राज्य के कई नरेशों ने जैन साहित्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। हरिहर द्वितीय की प्रेरणा से अम्भिनव श्रुतमुनि ने मल्लिवेर कृत मञ्जनवित्तवत्सल की कन्नड़-टीका लिखी। मधुर ने धर्मनाथपुराण और गोम्मतटाष्टक ग्रन्थों का प्रणयन किया। ये दोनों ही कवि उक्त राजा के आश्रय में थे। इस साम्राज्य में उत्पन्न देवराय द्वितीय (सम् १४१९-१४४९) ई० की राजसभा में जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने अन्य विद्वानों में शास्त्रार्थ कर विजयपत्र प्राप्त किया था। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ मूरि इसी देवराय के आश्रित थे। महाराज विष्णुसायराय की राजसभा में उद्भट विद्वाप् एवं महाम् वादी जैनाचार्य विशालकीर्ति ने परवादी विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर राजा से जय-पत्र प्राप्त किया था। बंगाल-नरेश का सेनापति मंगरस था, यह पराक्रमी और वीर होने के साथ कवि भी था। इसने जयनूपकाव्य, प्रमञ्जनचरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकौमुदी एवं सूपशास्त्र आदि ग्रन्थों की कन्नड़ में रचना की। महाराज कृष्णदेव की राजसभा में कई जैन कवि थे। भारत, शारदाविलास, नेमीश्वरचरित और वंछसांगल के कर्ता साल्व, चन्द्रप्रभचरित के कर्ता दोडव्य एवं अश्वरथ के कर्ता बाचरस उक्त राजा के आश्रय में रहकर ग्रन्थों का निर्माण करते रहे। वस्तुतः कृष्णदेव का राज्यकाल जैन साहित्य के प्रणयन के लिए बहुत ही उपयुक्त था। विजयनगर नरेश बैकटराय प्रथम (१५८६-१६१७ ई०) की राजसभा में भट्टारक शकलक ने सारत्रय और अलंकारत्रय का व्याख्यान करके कीर्ति अजित की थी। कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कन्नड़ व्याकरण इन्हीं की रचना है।

काठियावाड़ ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग ही जैन साहित्य के निर्माण का केन्द्र था। धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। इन्होंने पुण्ड्रन्त और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलाकर आगम का अध्ययन कराया, जिसके फलस्वरूप षट्खण्डागम का प्रणयन हुआ। गुजरात में सन् ४५४ ई० में क्षमाश्रमण देवद्विगणि की अध्यक्षता में जैन मुनियों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें जैनागमके ४५ ग्रन्थ संकलित किये गये। बलभीके जैनाचार्योंने मल्लवादी नामके एक महाम् आचार्य हुए, जिन्होंने द्वादशारनयचक्र नामक जैन न्यायका श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है।

प्राचीन समयमें गुजरातमें अणहिलवाड़के अतिरिक्त भिन्नमाल या श्रीमाल जैन विद्याके लिए प्रसिद्ध था। सिद्धार्थिका 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' नामक ग्रन्थ सन् ९०६ में इसी नगरमें समाप्त हुआ। सन् ७७८ ई० में उद्योतनसूरिने जाबालीपुर (जालोर) में कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थकी रचना की है, जो भिन्नमालके निकट है। उद्योतनसूरिने हरिभद्रके अतिरिक्त गुप्तवंशी देवगुप्त नामके आचार्य को भी अपना गुरु लिखा है। देवगुप्त महाकवि थे। इनके शिष्य शिवचन्द्रने श्रीमालको अपना निवास स्थान बनाया था। अणहिलवाड़में राज्य करनेवाले चौलुक्यवंशीय प्रथम राजा मूलराज जैन साहित्य का प्रेमी था। ११वीं शतीमें शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रने उत्तराध्ययनकी विशाल टीकाएँ लिखीं। सिद्धराजके आश्रयमें हेमचन्द्र और उनकी शिष्यमण्डलीने व्याकरण, काव्य, नाटक एवं नाट्यशास्त्रों पर ग्रन्थोंका प्रणयन किया। आचार्य हेमचन्द्रके समकालिक कवि और विद्वानोंने सिद्धराजके राजकवि प्रमत्तादवंशीय श्रीपालका नाम प्रसिद्ध है। उसने सिद्धराजके द्वारा निमित्त सुप्रसिद्ध सहस्रलिङ्गसागरकी प्रशस्ति लिखी है, जिसका कुछ अंश पाटनके एक मन्दिरमें मिले पापाणखण्ड पर खुदा प्राप्त हुआ है। बडनगरके गढ़की प्रशस्तिके अन्तमें श्रीपाल कविका परिचय निम्नप्रकार मिलता है :—

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबन्धः, श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।

श्रीपालनामा कविचक्रवर्त्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम् ॥

श्रीपालका पुत्र सिद्धपाल भी एक अच्छा कवि था और सिद्धपालका पुत्र विजयपाल अच्छा संस्कृत-नाटककार था। उसकी एक रचना 'द्रौपदी-स्वयंवर' उपलब्ध है, जो मूलराजके द्वारा निमित्त त्रिपुल्लवप्रामादो भीमदेव द्वितीयकी आज्ञासे अणहिलवाड़में खेला गया था। यशपाल कविने सन् ११७४-११७७ ई० के मध्यमें 'मोहराजपराजय' नाटककी रचना की। यशपाल कुमारपालके उत्तराधिकारी अजयपालका जैन मन्त्री था।

तेरहवीं सदीके पूर्वार्धमें गुजरातके धोलका नगरके राजाका महामन्त्री वस्तुपाल अपनी साहित्य-सेवाके लिए प्रसिद्ध है। इनका नरनारायणमहाकाव्य, सोमेश्वरकी कीर्तिकीमुदी और सुरतोत्सव, अरिसिंहका सुकृतसंकीर्तन, बालचन्द्रका वसन्तविलास और उदयप्रभमूरिका धर्माभ्युदय जैन साहित्यकी अमूल्य मणियाँ हैं, जिनके प्रणयनका श्रेय वस्तुपालको है। देशी राज्यके नरेशोंमें नागौर नरेश भारमल का नाम उल्लेख्ययोग्य है। इनके आश्रयमें राजमल्लने 'पञ्चाध्यायी, जम्बूस्वामीचरित, लाटीसंहिता, धर्म्यात्मकमलमार्तण्ड और पिङ्गलशास्त्रकी रचना की है। मुसलमान नरेशोंमें अकबरने अनेक जैन कवियोंको राज्याश्रय प्रदान किया था। इसने सन् १५८१ ई० में हीरविजयसूरिको गुजरातसे बुलाकर जगद्गुरुकी उपाधिसे विभूषित किया था। जहाँगीरने भी ब्रह्मचारी रायमल्ल,

कविमन्द धीर विष्णुको सत्कृत किया था। इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्तकर जैन साहित्य वृद्धिगत हुआ था। समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलंकदेव प्रभृति जैन नैयायिकोंको भी राजसभाओंमें सम्मान प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यके प्रणयनमें वातावरणका प्रमुख स्थान रहता है। राज्याश्रयके अभावमें सत् साहित्यके निर्माणमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ आती हैं। सुसंगठित संस्था धीर धनी-मानियोंका सहयोग साहित्य-रचनाके लिए सदासे अपेक्षित रहा है।

प्रेम और सौन्दर्यकी दृष्टिसे जैन साहित्यका मूल्यांकन :

साहित्य-निर्माणके लिए आवश्यक-राज्याश्रय एवं वातावरणके विश्लेषणके अनन्तर यह विचार करना भी अत्यावश्यक है कि प्रेम एवं सौन्दर्य निरूपण की दृष्टिसे जैन साहित्य का मूल्य कितना है? अधिकांश विद्वान् जैन साहित्यको आचार या धर्म-मूलक ही मानते हैं, पर बात ऐसी नहीं है। जैन साहित्यमें सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण यथेष्टरूपमें हुआ है। यहाँ पर केवल संस्कृत-साहित्यके उदाहरणों का ही विश्लेषण किया जायगा। प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तामिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी प्रभृति भाषाओंमें निबद्ध जैन साहित्यमें सौन्दर्य, प्रेम एवं जीवन-भोगों का यथेष्ट चित्रण वर्तमान है।

सौन्दर्यके दो क्षेत्र हैं—मानव जगत् और प्रकृति। मानव का शरीर नेत्रोंको आकृष्ट करता है और उसका आनन्द-भावनासे सीधा सम्बन्ध है। पुरुष-शरीर की अपेक्षा नारी-शरीरके चित्रणमें कवियोंने अधिक रस लिया है। कवि वीरनन्दी महासेन की महिषी लक्ष्मणके रूपलावण्य का चित्रण करता हुआ कहता है :—

तस्य श्रीरिव कमलालयादुपेता पातालादिवपरिनिर्गताहिकन्या।

पुरुषेवो रतिरि। लक्ष्मणेति जाया मर्णान्तःपुरपरमेश्वरी बभूव ॥

चन्द्रप्रभचरित, निर्णयसा० १९ २ ई०, १६।१६

सच्छाया विपुलमहातरोल्लेखेव मेघानामिव पदवी सतारतारा।

चापश्रीरिव वरवशालक्षजन्मा या रेजे सुकविकथेव चारुवर्णा ॥ — वही, १६।१७

कामदेव की पत्नी रतिके समान अथवा कमल-निवास का त्यागकर आयी हुई विष्णु-पत्नी लक्ष्मीके तुल्य या पातालसे प्रकट हुई नागकन्याके समान यह लक्ष्मणा है। महावृत्तको लताके समान सच्छाया—छायायुक्त, रानीके पक्षमें कान्तिसे युक्त; मेघा की पदवी—आकाशके समान बड़े तारागुच्छों—तारागणोंसे परिपूर्ण, रानीके पक्षमें मोतियोंसे परिपूर्ण; धनुष की शोभाके समान श्रेष्ठ वंश—बास रानीके पक्षमें कुलसे उत्पन्न और सुकवि की कथा—बाणीके समान सुन्दर—वर्ण-अक्षर, रानीके पक्षमें वर्ण—रंग वाली, उम राजा की रानी थी।

लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपकारे।

कार्कश्यं कुचयुगले न बाचि यस्या भंगोऽभूत्लक्षये न चापि शीले ॥

सौभाग्यं क्वचिदितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्याद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम्।

यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्प्रायेण प्रभवति तादृशी न सृष्टिः ॥

उस लक्ष्मणाके दोनों नेत्र बँबल थे, पर चित्त बँबल नहीं था; उसकी बाल झीमी थी, पर परोपकार की वृत्ति शिथिल नहीं थी; उसके स्तन कठोर थे, पर बाणी कठोर न थी; केशोंमें भंग—बक्रता—टेढ़ापन था, पर सदाचारके सम्बन्धमें बक्रता न थी। कहीं केवल सौमध्य होता है, कहीं केवल रूप-रंग होता है, कहीं केवल विनयगुण ही होता है और कहीं केवल शील होता है, पर लक्ष्मणामें ये सब बातें एक साथ थी।

महाकवि वादिराजने नारी-सौन्दर्य का चित्रण बहुत सुन्दर किया है। समस्त उदाहरणोंको प्रस्तुत करना शक्य है। अतः नमूनेके रूपमें दो-एक उदाहरण ही प्रस्तुत कर कवि की सौन्दर्य-वर्णन-की क्षमताको स्पष्ट किया जायगा। कवि विजया रानीके अंग-प्रत्यंगके सौन्दर्यका चित्रण करनेके पश्चात् कहता है।

तदीयसौन्दर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदितः ।

प्रकल्प्य मूर्त्त्यं नवपल्लवभिर्न्यं बली मृगाच्याः करमग्रहीदध्रुवम् ॥

पार्श्व० च. मा. दि. जैन ग्र. ब., वि. सं. १९७३, ७।९६

रतिके निमित्त उस अनिन्द्य सुन्दरी रानीके सौन्दर्यको लेनेके हेतु कामदेवके द्वारा भेजा गया राग (लालिमा) नूतन पल्लवरूपी लक्ष्मीको मूर्त्यके रूपमें लेकर आया; पर इस मृगनयनीके पास आते ही सब कुछ भूल गया और इस रूपवतीका हाथ पकड़कर यही रह गया।

धर्मशर्माभ्युदयमे महाकवि हरिचन्दने नारीरूपका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। सुव्रताके नाश्वर्यका चित्रण करता हुआ कवि कहता है :—

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कुतम् ।

शनैः शनैर्मौगध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः ॥

धर्मशर्माभ्युदय, निर्णयसागर, तम् १९३३ ई०, २।३६

सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने शनैःशनैः मौगध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा प्रभृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निमित्तकी तरह सुकुमार ताक्ष्ण्य अवस्थाको धारण किया।

स्मरेण तस्याः किल चारुता-रसं जनाः पिबन्तः शर-जर्जरीकृताः ।

स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गतः स्वेदजलच्छलाद्बहिः ॥ वही, २।६७

जो भी व्यक्ति उसके सौन्दर्य-रसका पान करते थे, कामदेव उन सबोंको अपने बाणों द्वारा जर्जर कर देता था, यदि ऐसा न होता तो सौन्दर्य-रसके पीनेके साथ ही स्वेद जलके बहाने उसके शरीरसे क्यों निकलने लगता।

इतः प्रभृत्यम्भ न ते मुखाम्बुजभिर्न्यं हरिष्येऽहमितीव चन्द्रमाः ।

प्रतीतयेऽस्याः सकुटुम्बको नखच्छलेन साध्यवाधरणाम्रमस्तृशान् ॥ वही, २।३८

हे मा ! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा—मानो यह विश्वास दिखानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने उस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था।

कविने श्रृंग-प्रसंगोंका चित्रण करते हुए लिखा है—

कपोलहेतोः खलु लोल-चक्षुषो विधिव्यधात्पूर्णमुधाकरं द्विधा ।

विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनप्रणाम् ॥ वही, २।५०

ऐसा मालूम होता है कि विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए मानो पूर्ण-चन्द्रमाके दो टुकड़े कर दिये हों। इसीलिए उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके बिल्लू वर्तमान है।

प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवुः प्रभयैव केवलम् ।

रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥ वही, २।५१

किसलय, बिम्बीफल और मूंगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके-प्रोष्ठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय ही प्रमृत भी उसका शिष्य हो चुका था। नासिकाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

ललाटलेखाशकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।

तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयन् ॥ वही, २।५३

उसकी नाक क्या थी? मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे भरनेवाली प्रमृतकी धारा ही जमकर दृढ़ हो गयी हो प्रभव। उसकी नाक दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तोलनेकी तराजू थी, पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टेः कलशार्पणोत्सुकः ।

लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्योर्ध्वोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम् ॥ वही, ३।५५

उस अनिन्द्य सुन्दरी को बनाकर विधाता सृष्टि के ऊपर मानो कलश रखना चाहते थे, इसलिए तां उन्होंने तिलक से चिह्नित भीहों के बहाने उसके मुख पर 'ॐ' यह मंगलाक्षर लिखा था।

कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले पतत्सत्पणाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।

प्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलांसचुम्बितौ ॥ वही, २।५५

स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे? मानों कपोलों के सौन्दर्य रूरी स्वरज जलाशय में प्यास के कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्यों के नेत्ररूपी पक्षियों को पकड़ने के लिए विधाता ने जाल ही बनाये हों।

प्रकृति-सौन्दर्य के प्रसंग में वन, उपवन, पर्वत, नदी, उषा, सन्ध्या, प्रभात, रजनी, ऋतु, समुद्र प्रभृति का प्रभावक चित्रण किया गया है। कवि अमरचन्द्र सूरि ने प्रभात का वर्णन करते हुए दधि-मन्थन करनेवाली गोपिकाओं की वेणी का सरस चित्रण किया है और उनकी वेणी को कामदेव का खड्ग कहा है।—

दधिमथनविलोलल्लोलहृग्वेणिवन्धा—

दयमदयमनङ्गो विश्वधिरवैकजेता ।

भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण—

अममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्बनक्ति ॥ बालभारत १।११।६

कवि बाणभट्ट ने भी प्रभात का सरस चित्रण किया है। कमलों में मन्द हुए अमर बाहर निकल रहे थे। चन्द्रकिरणों से स्फटिक मणि निमित्त-सा प्रासाद, जो कि रात्रि में सुधा भवल प्रतीत होता था, अब सूर्य-किरणों के समर्पक से कुंकुम स्नान-सा मालूम पड़ रहा है। नदी और सरोवरों का जल अंशुण प्रतीत हो रहा है। दधि-मन्थन करनेवाली गोपबालाओं की चंचल बेणी हिल रही है और उनका उभरा हुआ यौवन दमक रहा है।

संध्यागमे तततमोभृगनामिपङ्केर्नक्तं च चन्द्ररुचिचन्दनसंक्षयेन ।

यच्चर्चितं तदधुना मुवनं नवीनभास्वत्करीचघुस्तृणैरुपलिप्यतेस्म ॥ नेमिनि० ३।१५

अङ्गेन तुङ्गकुचकुम्भभृता विलोलवेणीकरोण निनदद्वलयान्दुकेन ।

गोप्यो बहन्त्य इव कामगजावतारं मन्थन्ति गोरसमसीमगभीरघोषम् ॥ वही ३।१८

प्रातः कालीन गीतल, मन्द, सुगन्ध समीर का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

स्वैरं विहृत्य सरसीषु सरोरुहाणामाकम्पनेन परितरङ्गुरितो रजोभिः ।

भृङ्गावलीमुखरशृङ्खलसूच्यमानो मन्दं मरुचरति चित्तभ्रवः करीव ॥ वही ३।२३

स्वच्छन्दता छोड़ तालाबों में कमलों के कांपने से चारों धोर से गिरे हुए पराग द्वारा आच्छादित अमरावली की बाचालता से अचगत होनेवाला पवन मनोस्पन्द हाथी के समाप्त धीरे धीरे प्रवाहित हो रहा था।

सूर्यास्त का मार्मिक वर्णन करते हुए कवि हरिचन्द्र ने आकाश में विधवा स्त्री का आरोप कर कहा है—

अस्तंगते भास्वति जीवितेशो विकीर्णकेशोऽयमःसमूहैः ।

ताराभ्रविन्दुप्रकरैर्वियोगदुःखादिव सौ रुदनी रराज ॥ धर्मश० १४।२०

सूर्यके अस्त होने पर ऐसा मालूम पड़ता था कि आकाशरुखी स्त्री सूर्यका पतिते नष्ट-मृत हो जाने पर विधवा हो गयी है, अतः वह अन्धकार-समूहके बहाने केश बिखेर कर ताराका अश्रुविन्दुओंके समूहसे मानो रो रही है। अन्धकारका चित्रण करता हुआ कवि पुनः कहता है—

अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे ।

उद्गीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नमस्तमोभिः ॥ वही १४।२२

जब कालरुखी वानरने मधुके छल्लेके समान सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़ कर फेंक दिया, तब उड़नेवाली मधु-मक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया।

प्रकृतिका मानवीकरण करते हुए कविने सूर्य पर जीवरका आरोप किया है—

अस्ताद्रिमारुह्य रविः पथोऽथै कैवर्तवत्क्षिप्रकराप्रजातः ।

आकृष्य विलेप नभःशटेऽथै क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम् ॥ वही १४।८

सूर्य जीवरकी तरह अस्ताचल पर आरोह हो समुद्रमें अपने किरणरूपी जालको डाले हुए था; जहाँ ही कर्क—केकड़ा, मकर—मगर और मीन—मत्स्यजन्तु (पक्ष में राशियाँ) उसके जालमें पड़े त्यों ही उसने खींच कर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया।

प्रकृति पर मानवीय भावनाओंका आरोप करते हुए कविने कहा—

तस्मिन् प्रियविरहात् चक्रवाक्याः काहण्याभिनि रवितं घनं नलिन्या ।

यस्मात्तर्जलस्रवलाच्छ्रिताकणानि प्रच्यन्ते कमलविलोचनानि तस्याः ॥ वही १६।२०

पतिसे विरहसे दुखी चकवी पर दया आनेसे कमलिनी माना रातभर खूब रोती रही है । इसलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रातःकालके समय जलकणोंसे चिह्नित एवं लाल लाल दिखाई दे रहे हैं ।

मुखं निमीलन्नयनारविन्दं कलानिधौ चुम्बति राक्षि रागान् ।

गलत्तमोनीलदुकूलचन्धा रयामाद्रवचन्द्रमणिच्छलेन ॥ वही, १४।३९

ज्यो ही चन्द्रमारूपी चतुर (पक्षमे कलाग्रास युक्त) पतिने जिसमे नेत्ररूपी कमल निमीलित है, ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया, त्यो ही उसकी भ्रन्धकाररूपी नीली साड़ीकी गाँठ खुल गयी और वह स्वयं चन्द्रकान्त मणिके छससे द्रवीभूत हो गयी ।

जैन साहित्यमे शृंगार और यौवनक चित्र भी कम नहीं है । जैन कवियोने जीवनकी समस्त विषाभाका पूर्णतया अवलोकन किया है । कवि नयचन्द्रे रतिको रस कहा है और इसे परमात्मासे भी उत्कृष्ट बतलाया है —

रतिरसं परमात्मारसाधिक कथममा कथयन्तु न कामिनः ।

यदि सुखी परमात्मविदेकको रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ ॥ हम्मीर का० ७।१०४

कवि अमरचन्द्रेने पुष्पावचयके समय नायक-नायिकाया की पारस्परिक ईर्ष्या का सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है —

अपि प्रसूनेषु नखक्षत प्रिये मृजत्यसूया विधे मनस्विनी ।

भृंगोऽपि दुष्पावचयोत्थित पित्रस्त्रियामुखाब्जं रक्षिनाप्यसूयत ॥

बालभारत १।८।२१

फूल खुलते समय प्रिय जब पुष्पोंको नखक्षत करता है तो उसकी मनस्विनी नायिकाको ईर्ष्या होती है । उधर नायिका द्वारा पुष्पचयनके कारण उड़ा हुआ अमर प्रियाके मुखकमल रस का पान करता है, जिसमे रसिक प्रियको भी असूया होती है । इस पक्षमे मनस्विनी नायिका और रसिक नायक दोनों की भावनाओं का अच्छा चित्रण किया गया है । इसी सन्दर्भमे कवि आगे कहता है —

भृगेण दष्टो नवपल्लवभ्रमादुपेत्य दूरादधरो मृगीदृश ।

विषव्यथा हर्तुमिव स्वयं रयादुपालिपीतो दयितेन धीमता ॥ वही १।८।२२

नवीन पल्लवके भ्रमसे दूरसे आकर अमर द्वारा उसा भृगनयनी का अधर विष वेदनामे व्याप्त है, अतः विष-व्यथाको दूर करनेके लिए शीघ्रतापूर्वक स्वयं बुद्धिमाधु प्रियने अधर का पान कर लिया । कवि नायक-नायिकाके प्रेम-मिश्रित क्रोध का चित्रण करता हुआ कहता है —

रजोऽवकीर्णं दयितेन कौसुमं परा यदालिङ्गितुमङ्गनादृश ।

तदाशु निःश्वासमरेण निघ्नती दहात्मनि द्रोहमपि व्यधत्त सा ॥

निशम्य क्लृप्ताममुनाभिधामिवा मवपयेऽसौ त्वद्वाशु मास्म माम् ।

प्रियेण बन्धा हृदि रोपिता व्यधाद्वितीव माला तुमुलं चलालिभिः ॥ बहो, १।१।२८-२९

प्रेमी द्वारा अन्य प्रेयसी का आलिंगन करनेके लिए अपनी अंगना की आँखों में पुष्पराग डाल दिया गया है, जिससे वह अंगना व्याकुल हो हाहाकार करती है और इस कपटको भ्रमगत कर लेनेके कारण वह लम्बी साँस लेती हुई द्रोह करती है ।

प्रेमी द्वारा गोज-स्खलन सुनकर कोई नायिका, जिसे प्रेमी माल्यार्पण कर रहा है, बिगड़ उठती है और कह उठती है कि मुझे छोड़ दो । इस अवस्थामें प्रिय द्वारा प्रेयसीके गलेमें पहिनाई गई माला ऐसी प्रतीत होती है, मानो चंचल भ्रमरों की माला ही व्यथा पहुँचा रही है ।

उद्दाम यौवन का चित्रण करते हुए कवि जनश्रयने लिखा है :—

महानिवेशं कुचपारमेका धृत्वा कराभ्यां त्वरितं जिहाना ।

उपयुपयुच्छ्वसिता नताङ्गी शून्यं तरन्तीव घटद्वयेन ॥ द्विसम्भान ८।३६

यौवनभारसे झुकी उत्तरोत्तर अधिक वेगसे साँस लेती हुई कोई एक स्त्री अपने बड़े-बड़े स्तनोंके भारको दोनों हाथोंसे संभाले तेजीसे आगे बढ़ती हुई ऐसी मालूम होती है मानो दो कलशोंके सहारे आकाशमें तैर रही है ।

इस प्रकार जैन साहित्यमें वनविहार, जलकेलि, उपवनयात्रा संभोगक्रीड़ा, गोष्ठीसमवाय-पुष्पावचय, दोलाबिलास, सुरापान प्रभृति का सजीव चित्रण पाया जाता है । संगीत, नृत्प-गान, चित्रकला आदिके वर्णन भी आये हैं । स्थानाभावसे यहाँ उक्त सभीके उदाहरण प्रस्तुत करना शक्य नहीं है ।

योजनाएँ और कार्यक्रम :

संसद द्वारा निर्धारित कार्यक्रम में पारिभाषिक जैन शब्दकोष, अषभ्रंश-शब्दकोष, महावीर-चरित (पालि, शौरसेनी-प्राकृत, अंग्रेजी, हिन्दी, भोजपुरी, मैथिली प्रभृति भाषाओं में) निर्माण की योजनाएँ हैं । पालि और भोजपुरी में महावीर-चरित लिखा जा रहा है, संभवतः आगामी अधिवेशन तक इन दोनों भाषाओं में तैयार हो जायगा । प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग के हेतु हम श्रीमन्तो से सहयोग की अपेक्षा करते हैं । इसी प्रकार कोष-ग्रन्थों में बौद्धिक सहयोग देने के लिए विद्वानों से भी सहयोग की प्रार्थना है । जैन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानों को भी संसद कार्यालय से सभी प्रकार की संभव सहायता दी जा सकती है । जो शोधकर्त्ता सहयोग के इच्छुक हों, वे संसद-कार्यालय से सम्पर्क स्थापित करें ।

संसद का प्रथम अधिवेशन जनवरी १९६५ ई० को आरा नगर में श्री बा० सुबोधकुमारजी, श्री बा० नेमकुमारजी, श्री बा० चतुरचन्द्रकुमारजी, श्री बा० दयालचन्दजी, श्री बा० महेंद्रकुमारजी, श्री बा० जुगलकिशोरजी, श्री प्रो० डॉ० राजारामजी, श्री बा० अजितकुमारजी, श्री बा० रत्नचन्दजी, श्री बा० नरेन्द्रकुमारजी, श्री बा० गिरराजकुमारजी प्रभृति महानुभावों के सहयोग से सम्पन्न हुआ । आरा के समस्त जैन समाज ने इस अधिवेशन को सफल बनाने में पूरा योगदान दिया । अधिवेशन के अवसर पर साहित्य-कला एवं दर्शन-आचार संविधियों का भी आयोजन किया गया ।

कृतज्ञता-ज्ञापन :

इस अवसर पर विभिन्न गाष्ठियां में पढ़े गए निबन्धों का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ये सभी निबन्ध अपनी-अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अभिवेशन के अवसर पर किये गये निश्चय के फलस्वरूप ही यह स्मारिका प्रकाशित हो रही है। इसके प्रकाशन का कुल व्यय-भार मुंबईली स्टेट (दक्षिण भारत) की युवराणी श्रीमती लक्ष्मीदेवी बी० ए० बाराणसी ने वहन किया है। आपके इस साहित्य अनुराग के लिए हम 'संसद्' की ओर से साधुवाद देते हैं। भारतीय जैन साहित्य संसद् के कार्यक्रमों में आप की विशेष अभिरुचि है और जैन वाङ्मय के जीवन-मूल्यों के प्रकाशन को मानवता की प्रतिष्ठा के लिए आप आवश्यक समझती हैं। अहिंसा समय, त्याग और तप जीवन के आश्वातक सत्य हैं, इनके अपनाने से ही व्यक्ति अन्तर्मुखी दृष्टि प्राप्त करता है।

हम संसद् के कार्यों में सहयोग देनेवाले समस्त महानुभावों के प्रति अपनी आदिक वृत्तज्ञता व्यक्त करते हुए पुनः सहयोग की आशा व्यक्त करते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारतीय जैन संसद् द्वारा स्वीकृत कार्य-प्रवृत्तियाँ और उनके सम्पादनार्थ गठित उपसमितियाँ

प्रारम्भिक-प्रविवेचनपर भारतीय जैन साहित्य संसद्ने निम्न कार्य-प्रवृत्तियाँ स्वीकृत की तथा उनके सम्पादनके लिए निम्न उपसमितियों का गठन किया गया ।

१. पारिभाषिक जैन शब्द-कोष :—पारिभाषिक जैन शब्द कोष प्रस्तुत करनेके लिए निम्न लिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति गठित की गई ।

- (१) प्राचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ।
- (२) प्राचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ।
- (३) प्राचार्य पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर ।
- (४) डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, दरभंगा ।
- (५) प्रो० दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसी ।
- (६) डॉ० श्री पुष्पमिश्रजी, आगरा ।
- (७) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा ।

२. पाल भाषामे भगवान् महावीर का जीवन-चरित—पाल-भाषामे भगवान् महावीर का जीवन-चरित लिखने का कार्य डॉ० महेस तिवारीको सौंपा गया और उन्हें सहायता देने के लिए निम्न लिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति बनाई गई —

- (१) डॉ० श्री श्यामसिंहजी, मिर्जापुर ।
- (२) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा ।
- (३) डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, दरभंगा ।

३. शौरसेनी प्राकृतमे भगवान् महावीर का जीवन-चरित एवं अन्य आख्यान-साहित्य :—प्रस्तुत करनेके लिए निम्नलिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति संघटित की गई —

- (१) डॉ० श्री एच० एल० जैन जबलपुर ।
- (२) श्री रामनाथ पाठक प्रणयी ।
- (३) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा ।
- (४) श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ।

भारतीय जैन साहित्य संसद् की नियमावली

(१) नाम—इस संस्था का नाम “भारतीय जैन साहित्य संसद्” होगा, जो नियमावलीमें प्रायः “संसद्” शब्द द्वारा अभिहित किया जायगा।

(२) स्थान—“संसद्” का प्रधान कार्यालय “संसद्” के प्रधान मंत्रीके साथ रहेगा।

(३) बोध-वाक्य और प्रतीक—“संसद्” का बोध-वाक्य “एतच्छं लोयाल्लोयं पयासेइ” रहेगा, जिसका प्रतीक साथमें संलग्न है।

(४) उद्देश्य—जैन वाङ्मय का पुनरुद्धार, नवीन साहित्य का सृजन एवं तत्सम्बन्धी शोध एवं प्रकाशन आदि “संसद्” के उद्देश्य रहेंगे।

(५) कार्यक्रम—“संसद्” के कार्यक्रम निम्नलिखित होंगे :—

(क) जैन वाङ्मयके विभिन्न वर्गोंपर शोध-कार्यमें शोध-कर्ताओंका हर सम्भव सहयोग देना, विभिन्न जैन एवं जैनतर शोध-संस्थानोंसे सम्पर्क एवं संयोजन तथा शोध-निर्देशकोंसे सम्बन्ध रखना।

(ख) प्राचीन जैन वाङ्मय का उद्धार, सम्पादन, अनुवाद एवं नवीन जैन साहित्य का निर्माण एवं उसमें प्रोत्साहन देना।

(ग) जैन वाङ्मयका प्रकाशन एवं उसमें यथाशक्य सहयोग देना।

(घ) “संसद्” के वार्षिक अधिवेशनों, संगोष्ठियों, परिसंवादों तथा निबन्ध-पाठों का आयोजन करना, एवं।

(च) “संसद्” की वार्षिक स्मारिका, संसद्-शोध-पत्रिका एवं विभिन्न जैन भण्डारोंके वाङ्मयकी सूची प्रकाशित करना।

(छ) अन्य कार्य, जो “संसद्” की कार्य-समिति उचित समझे तथा जो उद्देश्यके विपरीत न हो।

(६) “संसद्” व्यवस्था—“संसद्” की कार्य-व्यवस्था “संसद्” के सदस्यों द्वारा प्रत्येक तीन वर्ष पर निर्वाचित “संसद्” कार्य-समिति द्वारा होगी, जिसमें कम-से-कम १५ एवं अधिक-से-अधिक २१ व्यक्ति होंगे जिसमें एक अध्यक्ष, दो उपाध्यक्ष, एक प्रधानमंत्री, दो संयुक्तमंत्री और एक कोषाध्यक्ष होंगे। “संसद्” की वार्षिक बैठकमें “संसद्” का जांचा गया हिसाब उपस्थित किया जायेगा तथा “संसद्” को अपनी नीति-निर्धारण का अधिकार रहेगा। “संसद्” के अध्यक्ष कार्य-समिति एवं “संसद्” की बैठककी अध्यक्षता करेंगे तथा स्वीकृत कार्य-क्रमोंको कार्यान्वयन करनेके लिए प्रधान मंत्रीको समुचित निर्देशन देते रहेंगे। प्रधानमंत्री “संसद्” एवं कार्य-समितिके कार्यों का कार्यान्वयन करेंगे तथा संयुक्त मंत्रियोंसे अपने कार्योंमें सहयोग लेते रहेंगे।

(७) कार्य-समिति—“संसद्” की कार्य-समिति पर “संसद्” की नित्यप्रति व्यवस्था, मंचालन, इसके उद्देश्यों एवं कार्यक्रमोंको लागू करने, अधिवेशनोंके लिए सभाध्यक्ष, विभागाध्यक्ष, संगोष्ठि-वक्ताओं आदिके नाम चुनने, सम्पादक-मंडल गठन करने एवं अन्य संस्थानोंमें अपने प्रतिनिधि मनोनयन करने का अधिकार एवं दायित्व रहेगा।

(८) बैठकें—“संसद्” एवं कार्य-समितिकी बैठक वर्षमें कम-से-कम एक बार अवश्य होगी, जिसे सामान्यतः प्रधान मंत्री, अध्यक्षकी सम्मति-पूर्वक बुलावेंगे। विशेष परिस्थितिमें कार्य-समिति की बैठक ५ सदस्योंके संयुक्त हस्ताक्षरसे बुलाई जायगी। “संसद्” की बैठककी गण-पूरक संख्या २१ सदस्योंकी होगी एवं कार्य-समितिकी गण-पूरक संख्या एक-तिहाई सदस्योंकी होगी।

(९) सदस्यता—“संसद्” के तीन प्रकारके सदस्य होंगे :—

१. साधारण सदस्य—जो “संसद्” के उद्देश्योंको मानते हुए वार्षिक दस रुपया सदस्यता शुल्क देंगे ।
२. आजीवन सदस्य—जो “संसद्” के उद्देश्योंको मानते हुए जीवन-भरके लिए सौ रुपया शुल्क देंगे ।
३. संस्था-सदस्य—कोई भी संस्था प्रतिवर्ष बीस रुपया देकर “संसद्” का सदस्य बन सकती है, जिस अधिवेशनोमे दो प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होगा ।

(१०) ग्रन्थ-व्यवस्था—“संसद्” अपने सदस्योंके सदस्य-शुल्क एवं सरकारी या गैरसरकारी अनुदान एवं दान द्वारा अपनी ग्रन्थ-व्यवस्था करेगी ।

(११) संशोधन-परिवर्धन—“संसद्” की नियमावलीमे कोई भी संशोधन-परिवर्धन “संसद्” की बैठक मे उपस्थित सदस्योंके दो-तिहाई मतस ही पारित होगा, किन्तु ऐसे प्रस्तावोंकी सूचना तीन माह पूर्व ही देनी होगी ।

(१२) सक्तमण-नियम—

(क) “संसद्” के वर्तमान सदस्य ही “संसद्” के सदस्य समझे जायेंगे ।

(ख) “संसद्” की प्रथम कार्य-समिति के सदस्यों की नामावलि निम्न प्रकार है :—

१. प्राचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी, अध्यक्ष ।
२. प्राचार्य पं० चैतन्यदासजी न्यायतीर्थ, जयपुर, उपाध्यक्ष ।
३. प्राचार्य पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी ।
४. डॉ० प्रो० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए., पी-एच. डी., भारा, प्रधानमंत्री ।
५. प्रो० पं० दरबारीलालजी कोठिया, एम. ए., प्राचार्य, वाराणसी, संयुक्तमंत्री ।
६. डॉ० कस्तूरचन्द्रजी काशीवाल, एम. ए., पी-एच. डी., जयपुर ।
७. बाबू श्रीबोधकुमारजी रहैस, भारा, कोषाध्यक्ष ।
८. प्राचार्य डॉ० श्यामसिंह एम. ए., पी-एच. डी., मिर्जापुर, सदस्य ।
९. प्रो० श्रीरामजीमिह एम. ए., भागलपुर, सदस्य ।
१०. डॉ० श्री ज्योतिप्रसादजी जैन एम. ए., पी-एच. डी., लखनऊ, सदस्य ।
११. डॉ० प्रो० गुलाबचन्द्रजी चौधरी, एम. ए., पी-एच. डी., दरभंगा, सदस्य ।
१२. डॉ० प्रो. महेष् तिवारी एम. ए. पी. एच. डी. नालन्दा, सदस्य ।
१३. प्रो० श्री उदयचन्द्रजी एम. ए., वाराणसी, सदस्य ।
१४. प्रो० श्री खुशालचन्द्रजी गोराला एम. ए., प्राचार्य, काशी, सदस्य ।
१५. डॉ० प्रो. राजारामजी जैन, एम. ए., पी-एच. डी., भारा, सदस्य ।
१६. श्री देवेन्द्रकिशोरजी जैन, भारा, सदस्य ।
१७. डॉ० प्रो० प्रेमसागरजी जैन, एम. ए., पी-एच. डी., बड़ौत, सदस्य ।
१८. श्री प्रो० अमृतलालजी शास्त्री, साहित्य-जैन्दर्शनार्थ, काशी, सदस्य ।
१९. श्री पं० रामनाथजी पाठक प्रणवी एम. ए. (प्राकृत एवं संस्कृत) प्राचार्य, बेलवर, सदस्य ।
२०. श्री दलसुखजी भालवरिया, ग्रहमदाबाद, सदस्य ।
२१. श्री अग्रचन्द्रजी ताहटा, बीकानेर, सदस्य ।

MEMBERSHIP ENROLMENT FORM

To,

The Hony. Secretary,

Bhartiya Jain Sahitya Sansad

Regd. No. 13 dated 12-8-65 under the Societies Registration Act 21, 1860

Jain Siddhanta Bhawan

ARRAH (Bihar)

Dear Sir,

I want to be enrolled as a member in your Bhartiya Jain Sahitya Sansad for which I am sending you the Yearly Membership fee of Rs. 10/- (Rupees ten only) Life Membership for ~~the~~ year... ..by Money Order/
Rs. 100/- (Rupees hundred only),
Indian ~~Postal~~ Order no.dated for being enrolled as a member.

I will abide by all the rules & regulations in force and to further changes in them in future.

I am giving below the particulars as follows

Name in full (Block letters)... ..

Address.....

Post Office.....District.....State.....

AgeNationality.....

Qualifications.....

Publications

Present occupat on/Designation.....

Other particulars if any.....

Yours faithfully,

Signature.

बोर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 289.2 11
लेखक शास्त्री ११ लाय चन्द्र
शीर्षक मासीय जैन सहित्य-संस्मर
खण्ड १ क्रम संख्या ४३९३